श्री जवाहर-किरणावली

तृतीय-किरण दिव्य-संदेश

पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज के भीनासर चातुर्मास के
कतिपय व्याख्यान

सम्पादक—

पं० शोभाचन्द्र भारिल्ल, न्यायतीर्थ

प्रकाशक—

सेठ बहादुरमलजी बांठिया, भीनासर (बीकानेर)

प्रकाशक—

बहादुरमल बांठिया,
भीनासर (बीकानेर)

प्रति १०००] प्रथमावृत्ति [मूल्य १ रुपया

वि० सं० १९९९, कार्त्तिक शुक्ला चतुर्थी
ता० १२ नवम्बर. १९४२

मुद्रक—
रामस्वरूप मिश्र
मनोहर प्रिंटिङ्ग वर्क्स,
ब्यावर.

मदीयम्

हमारे देश के नवयुवकों में धर्म के प्रति अरुचि का जो भाव दिनों दिन बढ़ता जा रहा है उसका एक कारण अगर पाश्चात्य शिक्षा है तो दूसरा कारण धर्मोपदेशकों की उपेक्षा भी है। धर्मोपदेशक अकसर धर्म को संकीर्णता के कारागार में कैद कर रखते हैं और उसे परलोक के काम की चीज़ बताते हैं। वर्त्तमान जीवन में धर्म की क्या उपयोगिता है, और किस प्रकार पद-पद पर धर्म का जीवन में समावेश होना आवश्यक है, इसकी ओर उनका लक्ष्य शायद ही कभी जाता है। संक्षेप में कहा जाय तो आज धर्म 'व्यवहार' न रहकर *'सिद्धान्त' बन गया है* !

संसार में आज समाजवाद की भावना बढ़ रही है और भारत भी उस भावना का अपवाद नहीं रहा है। धर्मोपदेशक जब एकान्ततः व्यक्तिवाद की ओर आकृष्ट होकर व्यक्तिगत अभ्युदय के ही साधन रूप में धर्म की व्याख्या करते हैं तब समाजवादी नवयुवक धर्म की ओर हिकारत भरी निगाह से देखने लगता है।

जीवन को ऊँचा उठाने के लिए प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप दो

पंखों की आवश्यकता है। जिस पंखी का एक पंख उखड़ जायगा वह अगर अनन्त और असीम आकाश में विचरण करने की इच्छा करेगा तो परिणाम एक ही होगा—अधःपतन। यही बात जीवन के संबंध में है। जीवन की उन्नति प्रवृत्ति और निवृत्ति-दोनों के बिना साध्य नहीं है। एकान्त निवृत्ति निरी अकर्मण्यता है और एकान्त प्रवृत्ति चित्त की चपलता है। इसीलिए ज्ञानी पुरुषों ने कहा है—

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती व जाण चारित्तं।

अर्थात्—अशुभ से निवृत्त होना और शुभ में प्रवृत्ति करना ही सम्यक् चारित्र समझना चाहिए।

'चारित्तं खलु धम्मो' अर्थात् सम्यक् चारित्र ही धर्म है; इस कथन को सामने रख कर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि धर्म प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप है। 'अहिंसा' निवृत्ति है पर उसकी साधना विश्वमैत्री और समभावना को जागृत करने रूप प्रवृत्ति से ही होती है। इसीसे अहिंसा व्यवहार्य बनती है। किन्तु हमें प्रायः जीवघात न करना सिखाया जाता है, पर जीवघात न करके उसके बदले करना क्या चाहिए, इस उपदेश की ओर उपेक्षा बताई जाती है।

आचार्य श्री जवाहरलालजी म० के व्याख्यानों में इन त्रुटियों की पूर्त्ति की गई है। उन्होंने धर्म को व्यवहार्य, सर्वाङ्गीण और प्रवर्त्तक रूप देने की सफल चेष्टा की है। अपने प्रभावशाली प्रवचनों द्वारा उन्होंने शास्त्रों का जो नवनीत जनता के समक्ष रक्खा है, निस्संदेह उसमें जीवनी शक्ति है। उनके विचारों की उदारता ऐसी ही है जैसे एक मार्मिक विद्वान् जैनाचार्य की होनी चाहिए।

आचार्य की वाणी में युगदर्शन की छाप है, समाज में फैले हुए अनेक धर्म संबंधी मिथ्या विचारों का निराकरण है, फिर भी वे प्रमाण-

भूत शास्त्रों से इञ्च मात्र इधर-उधर नहीं होते। उनमें समन्वय करने की अद्भुत क्षमता है। वे प्रत्येक शब्दावली की आत्मा को पकड़ते और इतने गहरे जाकर चिन्तवन करते हैं कि वहाँ गीता और जैनागम एकमेक से लगते हैं।

गृहस्थ जीवन को अत्यन्त विकृत देख कर कभी-कभी आचार्य तिल-मिला उठते हैं और कहते हैं—'मित्रो ! जी चाहता है, लज्जा का पर्दा फाड़कर सब बातें साफ-साफ कह दूं।' नैतिक जीवन की विशुद्धि हुए बिना धार्मिक जीवन का गठन नहीं हो सकता, पर लोग नीति की नहीं, धर्म की ही बात सुनना चाहते हैं। आचार्य उनसे साफ-साफ कहते हैं—लाचारी है मित्रो ! नीति की बात तुम्हें सुननी होगी। इसके बिना धर्म की साधना नहीं हो सकती।' और वे नीति पर इतना ही भार देते हैं, जितना धर्म पर।

आचार्य के प्रवचन ध्यान पूर्वक पढ़ने पर विद्वान पाठक यह स्वीकार किये बिना नहीं रह सकते कि व्यवहार्य धर्म की ऐसी सुन्दर उदार और सिद्धान्त संगत व्याख्या करने वाले प्रतिभाशाली व्यक्ति अत्यन्त विरल होते हैं।

आचार्य श्री अपने व्याख्येय विषय को प्रभावशाली बनाने के लिए और कभी-कभी गूढ़ विषय को सुलभ बनाने के लिए कथा का आश्रय लेते हैं। कथा कहने की उनकी शैली निराली है। साधारण कथानक में वे जान डाल देते हैं। उसमें जादू-सा चमत्कार आ जाता है। उन्होंने अपनी सुन्दर शैली, प्रतिभामयी भावुकता एवं विशाल अनुभव की सहायता से कितने ही कथा-पात्रों को भाग्यवान् बना दिया है। 'सव्वा कला धम्मकला जिणइ' अर्थात् धर्मकला समस्त कलाओं में उत्कृष्ट है, इस कथन के अनुसार आचार्यश्री की कथाएँ उत्कृष्ट कोटि की कला की निदर्शन हैं। प्रायः पुराणों और इतिहास

में वर्णित कथाओं का ही प्रवचन करते हैं पर अनेकों बार सुनी हुई कथा भी उनके मुख से एकदम मौलिक-अश्रुतपूर्व-सी जान पड़ने लगती है।

आचार्य के उपदेश की गहराई और प्रभावोत्पादकता का प्रधान कारण है, उनके आचरण की उच्चता। वे उच्चश्रेणी के आचारनिष्ठ महात्मा हैं।

आचार्यश्री के प्रवचनों का उद्देश्य न तो अपना वक्तृत्वकौशल प्रकट करना है और न विद्वत्ता का प्रदर्शन करना; यद्यपि उनके प्रवचनों से उक्त दोनों विशेषताएँ स्वयं झलकती हैं। श्रोताओं के जीवन को धार्मिक एवं नैतिक दृष्टि से ऊँचे उठाना ही उनके प्रवचनों का उद्देश्य है। यही कारण है कि वे उन बातों पर बारम्बार प्रकाश डालते नज़र आते हैं जो धर्ममय जीवन की नींव के समान हैं। इतना ही नहीं, वे अपने एक ही प्रवचन में अनेक जीवनोपयोगी विषयों पर भी प्रकाश डालते हैं। उनका यह कार्य उस शिक्षक के समान है जो अबोध बालक को एक ही पाठ का कई बार अभ्यास कराकर ऊँचे दर्जे के लिए तैयार करता है।

विश्वास है यह प्रवचन संग्रह पाठकों को अत्यन्त लाभप्रद सिद्ध होगा। इस संग्रह के प्रकाशन की आज्ञा देने वाले श्रीहितेच्छु श्रावक मंडल रतलाम और प्रकाशक सेठ बहादुरमलजी बांठिया, भीनासर, के प्रति हम पाठकों की ओर से कृतज्ञता-प्रकाशन करते हैं।

सम्पादन करते समय मूल व्याख्यानों के भावों का और भाषा का पूरा ध्यान रक्खा गया है। फिर भी वह छद्मस्थ ही कैसा जो अभ्रान्त होने का दावा करे? अगर कहीं भाव-भाषा संबंधी अनौचित्य दिखाई पड़े तो उसका उत्तरदायित्व सम्पादक के नाते मुझ पर है।

'जवाहर किरणावली' की पहली और दूसरी किरण भी साथ ही प्रकाशित हो रही है। अभी मुझे सूचना मिली है कि बीकानेर की श्री श्वे. स्था. जैन हितकारिणी संस्था ने पूज्यश्री का उपलब्ध साहित्य प्रकाशित करना तय किया है। हितकारिणी संस्था का यह पुण्य निश्चय बधाई के योग्य है। आशा है इस किरणावली की अगली अनेक किरणें भी शीघ्र पाठकों को हस्तगत होंगी।

जैन गुरुकुल,
ब्यावर
दीपावली, १९९९.

—शोभाचन्द्र भारिल्ल, न्यायतीर्थ

प्रकाशक के दो शब्द

परम प्रतापी जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज के जनहितकर व्याख्यान प्रकाशित करने का सुयोग पाकर मेरी प्रसन्नता का पार नहीं है। सर्व साधारण जनता इससे लाभ उठावे, इसीमें मेरी कृतार्थता है।

राजनीतिक परिस्थितिके कारण कागज का मूल्य बेहद बढ़ गया है और इतने पर भी समय पर आवश्यक कागज नहीं मिलता। फिर भी पुस्तक का मूल्य अधिक नहीं रक्खा गया है। पुस्तक-विक्रय की आय भी साहित्य प्रचार में ही खर्च की जायगी।

जब पुस्तक-प्रकाशन का निश्चय हुआ तब पूज्य श्री की जयन्ती-कार्तिक शुक्ला चतुर्थी को बहुत दिन नहीं रह गये थे और उक्त समय पर पुस्तक प्रकाशित करनी थी। साहित्य-प्रेमी पं० शान्तिलालजी शेठ के घोर परिश्रम से पुस्तक समय पर प्रकाशित हो सकी है। अतएव हम पंडितजी के आभारी हैं।

शीघ्रता के कारण प्रूफ संबंधी त्रुटियों का रह जाना स्वाभाविक है। आशा है प्रेमी पाठक इसके लिए क्षमा करेंगे।

—प्रकाशक

श्रीमान् सेठ बहादुरमलजी बांठिया
भीनासर (बीकानेर)

श्रीमान् सेठ बहादुरमलजी सा. बांठिया

[संक्षिप्त परिचय]

स्थानकवासी सम्प्रदाय के पुराने नायकों का स्मरण करने पर भीनासर (बीकानेर) के श्रीमान् सेठ बहादुरमलजी सा. बांठिया का नाम अवश्य याद किया जाता है। आपने विगत वर्षों में समाज की बहुमूल्य सेवाएँ की हैं। समाज की अनेक प्रसिद्ध संस्थाओं के साथ आपका घनिष्ठ संबंध रहा है।

सेठ बहादुरमलजी सा. एक आदर्श श्रीमान् के समस्त गुणों से युक्त महानुभाव हैं। आपके हृदय की उदारता, सदाचारिता, सरलता और सेवाप्रेम अनुकरणीय हैं।

उदारता बांठिया-वंश में परम्परागत वस्तु बन गई है। सेठ बहादुरमलजी सा. को भी वह वसीयत में मिली है। सेठजी के पितामह श्रीहजारीमलजी बांठिया ने एक लाख, एकतालीस हजार रुपये का उदार दान दिया था, जिसका सार्वजनिक कार्यों में सदुपयोग करते हुए आपने भी अपने जीवनकाल में लगभग सवा लाख रुपयों का दान दिया है।

आपकी ओर से भीनासर में एक जैन औषधालय चलता है। बहुत वर्षों तक सेठजी अपने निजी खर्च से और निजी देखरेख में उसका संचालन करते रहे। वि. सं. ९६ में आपने स्थायी रूप प्रदान करने के उद्देश्य से २५०००) रु. दान कर औषधालय का फंड बना दिया है।

पींजरापोल के लिए आपने अपना एक मकान भेट दिया है, पंचायत के लिए मकान और जमीन दी है, घोड़ा आदि पशुओं की दया से प्रेरित हो गंगाशहर से लेकर भीनासर तक पक्की सड़क बनवाने में आपका मुख्य हाथ है और उसके लिए आपने आधा खर्च भी किया है।

पूज्यश्री के प्रति आपकी अनुपम भक्ति है। पूज्यश्री को जब युवाचार्य पद्वी देने का श्रीसंघ ने निश्चय किया, पर पूज्य श्री ने उसे स्वीकार न करते हुए सामान्य मुनि के रूप में ही रहने की इच्छा प्रदर्शित की थी तब स्वर्गीय सेठ वर्धमानजी पीतलिया के साथ आप पूज्यश्री की सेवा में उपस्थित हुए और आपने युवाचार्य पद की स्वीकृति प्राप्त की।

जलगाँव में जब पूज्य श्री का स्वास्थ्य बहुत अधिक खराब हो गया था, तब आप अपने घर-द्वार की चिन्ता छोड़कर पूज्यश्री की सेवा में उपस्थित रहे। उस समय की आप की भक्ति अत्यन्त सराह-

नीय है। संवत् १९८४, ९८, और ९९ में भी आपको पूज्यश्री की सेवा का महत्वपूर्ण लाभ प्राप्त हुआ है।

खेद है कि वि. सं. १९९६ में आप लकवा से ग्रस्त हो गये हैं और चलने-फिरने में असमर्थ हैं। फिर भी भक्ति के आधिक्य के कारण आप प्रतिदिन पूज्यश्री तथा संतों के दर्शन करने के लिए खास तौर पर बनवाई गई गाड़ी में किसी प्रकार जाते हैं, सामायिक करते हैं और व्याख्यान सुनते हैं। जब अनेक तन्दुरुस्त लोग धर्मक्रिया में प्रमादशील बने रहते हैं तब सेठ सा. की यह धर्मभक्ति देखकर हृदय से 'वाह–वाह !' निकल पड़ता है।

सेठ सा. की धर्मपत्नी का जब स्वर्गवास हुआ, तब आपकी उम्र सिर्फ ३९ वर्ष की थी। धन की बहुलता और यौवनकाल होने पर भी आपने दूसरा विवाह नहीं किया और पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करने की भीष्म प्रतिज्ञा ले ली। जहाँ ६० वर्ष के बूढ़े काम-वासना के गुलाम बने रहते हैं वहाँ सेठ सा. का भर जवानी में पूर्ण ब्रह्मचर्य-पालन निस्सन्देह एक बहुत ऊँचा आदर्श है और इससे उनके जीवन की उच्चता का अनुमान लगाया जा सकता है। आपके ब्रह्मचर्य का ही यह प्रताप है कि लकवा से दीर्घ काल से ग्रस्त होने पर भी आप अब तक धर्मध्यान करते रहते हैं।

सेठ बहादुरमलजी सा. को साहित्य से बहुत प्रेम है। आपने अपनी ओर से कई पुस्तकें प्रकाशित की हैं और कइयों के प्रकाशन

में सहायता प्रदान की है। 'धर्म-व्याख्या' की दो हजार प्रतियाँ आपने बिना मूल्य वितीर्ण कराईं और 'सत्यमूर्त्ति हरिश्चन्द्र', 'ब्रह्मचर्य व्रत', 'सुदर्शन चरित्र' और 'मुखवस्त्रिका सिद्धि' आदि पुस्तकों को अर्द्ध-मूल्य में विक्रय करने के लिए सहायता दी। प्रस्तुत पुस्तक 'दिव्य-सन्देश' भी आपकी ही सहायता से प्रकाशित की जा रही है। पूज्य श्री श्रीलालजी महाराज के जीवन-चरित के लिए आपने दो हजार रुपये की बिना माँगी सहायता दी और अपने साहित्यप्रेम एवं धर्मानुराग का परिचय दिया।

दीक्षाभिलाषी वैरागियों को आपकी ओर से शास्त्र आदि धर्मोपकरण भेट किये जाते हैं। आपने अपने अध्ययन के लिए पुस्तकों का ग्रन्थालय के रूप में संग्रह किया है जिसमें छपे हुए ग्रन्थों के अतिरिक्त हस्तलिखित धर्म-ग्रन्थ भी हैं।

आज कल भी आप 'हितेच्छु श्रावक मंडल' रतलाम आदि अनेक संस्थाओं के प्रथमश्रेणी के सदस्य हैं। इस प्रकार आपके जीवन की संक्षिप्त रूपरेखा है।

आपका कुटुम्ब बीकानेर के प्रसिद्ध धनिकों में गिना जाता है। कलकत्ता और मन्मुख (आसाम) में आपके फर्म चलते हैं और सिंघपुरा (पंजाब) में आपकी विशाल जमीदारी है। कलकत्ते में छतरी का आपका प्रसिद्ध कारखाना है। इस प्रकार धन का भरापूरा

भंडार होने पर भी आपकी सादगी प्रशंसनीय है। आप अत्यन्त सरल, मिलनसार और भावुक हैं।

आपके सुपुत्र कुँ० तोलारामजी तथा कुँ० श्यामलालजी भी बड़े सेवाभावी, धर्मानुरागी और सरल हृदय हैं। आपसे समाज को बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं।

शासनदेव से प्रार्थना है, सेठ बहादुरमलजी साहब बाँठिया स्वास्थ्य के साथ चिरजीवन प्राप्त करें और अनुकरणीय आदर्श समाज के समक्ष उपस्थित करते रहें।

दिव्य-सन्देश : : विषयानुक्रम

ब्रह्मचर्य

प्रार्थना

श्री आदीश्वर स्वामी हो,
प्रणमूं सिर नामी तुम भणी, प्रभु अन्तर्यामी आप।
मो पर म्हेर करीजे हो,
मेटीजे चिन्ता मन तणी, म्हारा काट पुराकृत पाप॥

भगवान् आदिनाथ की यह प्रार्थना की गई है। ऋषभदेव के नाम से जैन और अजैन जनता उन्हें अपना आराध्यदेव मानती है। आदिनाथ भगवान इस अवसर्पिणी काल के प्रथम तीर्थङ्कर हुये हैं। उनके जीवन पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि भगवान ऋषभदेव ने धर्म-तीर्थ की स्थापना करने से पहले, जनता में धार्मिक पात्रता उत्पन्न करने के लिये सुन्दर समाज-व्यवस्था की थी। उन्होंने विविध कलाओं की स्थापना की और शिक्षा-पद्धति भी चलाई थी। समाज-शान्ति के लिये भगवान् ने नीति-निर्माण किया और वर्ण-व्यवस्था की भी नींव डाली थी।

शास्त्रों के मर्म का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् के द्वारा की हुई वर्ण-व्यवस्था कर्त्तव्य की सुविधा के लिये थी। वह अहङ्कार का पोषण करने के लिये नहीं थी। अतएव आज वर्णों के नाम पर जो उच्चता-नीचता की भावना फैली हुई है, वह वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप नहीं है। यह वर्ण-व्यवस्था का विकार है। प्रत्येक व्यवस्था कुछ समय व्यतीत होने पर सर्व-साधारण के सम्पर्क से विकृत हो जाती है। यहाँ तक कि लोग उसका मूल-सिद्धान्त भुला देते हैं और उसके विविध विकारों को इतना अधिक महत्त्व दे देते हैं कि उसके मूल-सिद्धान्त को खोज निकालना भी मुश्किल हो जाता है। जब उस व्यवस्था का मूल-सिद्धान्त विकारों में दब जाता है तो अनेक लोग उसे हानिकारक और अनुपयोगी समझ कर, उससे घृणा करने लगते हैं। अगर इस प्रकार घृणा करने वाले लोग दोष के पात्र हैं, तो उनसे पहले दोषी वे हैं जो अमृत सरीखी हित-कारक शुद्ध व्यवस्था में विकार के विष का सम्मिश्रण करके उसे विषैली बना डालते हैं; तथापि विवेकशील विद्वानों का यह कर्त्तव्य है कि वे किसी व्यवस्था को समूल नष्ट करने का प्रयत्न करने से पहले उसके अन्तस्तत्त्व का अन्वेषण करें और उसे पहचान कर आये हुए विकारों को ही दूर करने की चेष्टा करें।

वर्ण-व्यवस्था सामाजिक और राष्ट्रीय अभ्युदय के लिये अत्यन्त आवश्यक और उपयोगी थी और अब भी है; परन्तु वर्ण-व्यवस्था का वर्तमान विकृत रूप अवश्य त्याज्य है। उदाहरण के लिये आज-कल के क्षत्रिय मूक पशुओं का शिकार करने में ही अपने क्षात्र-धर्म की शोभा समझते हैं और राष्ट्र-रक्षा के अपने असली कर्त्तव्य से विमुख हो रहे हैं। कहाँ तो राष्ट्र की, राष्ट्र की निर्बल जनता की रक्षा करना और कहाँ बेचारे घास खा कर वन में रहने

वाले हिरन आदि सौम्य एवं मूक प्राणियों की निर्दयतापूर्ण हिंसा! दोनों में आकाश पाताल का अन्तर है।

एक समय ऐसा था जब क्षत्रियों ने अपने धर्म का पालन करके संसार को इस प्रकार प्रकाशित कर दिया था, जैसे सूर्य अपने प्रखर प्रताप से विश्व को आलोकित कर देता है। बड़े २ राजों-महाराजों ने और ऋषि-महर्षियों ने धर्म के तेज को धारण करके पाप के अन्धकार को विलीन-सा कर दिया था। उन तेजस्वी पुरुषों की जीवन-कथा आज भी हमें उनके पदानुसरण के लिए प्रेरित और उत्साहित करती है। प्राचीन काल में क्षत्रियों ने अपना क्षात्र-धर्म किस प्रकार दिखाया था, इसका उल्लेख इतिहास के पन्नों पर सुवर्ण-वर्णों से लिखा हुआ है। वे गृहस्थ थे, पर आजकल के आचार-विचार वाले नहीं थे। उन्हें गम्य-अगम्य का अवगम था, भक्ष्य-अभक्ष्य का भान था और कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विवेक था। जिसे गम्य-अगम्य का ज्ञान नहीं है, भक्ष्य-अभक्ष्य का विचार नहीं है और कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का बोध नहीं है वह सच्चे अर्थ में मनुष्य कहलाने योग्य भी नहीं है।

जिन्होंने कर्त्तव्य के राजमार्ग को छोड़ कर अकर्त्तव्य के पथ पर पैर रक्खा था उन्हें संसार घृणा की दृष्टि से देख रहा है। अकर्त्तव्य करने वाले स्वयं तो पतित हुये ही, पर उन पर जिन दूसरों का उत्तरदायित्व था, उन्हें भी वे ले डूबे। उन्होंने उन भोले और अज्ञानी लोगों को भी पतित बना दिया।

वीर क्षत्रियवंश ने अपने कर्त्तव्य में रत रह कर, न केवल अपने ही वंश को, वरन् चारों आश्रमों को देदीप्यमान कर दिया था। शास्त्रों में इस कथन के पोषक बहुत से उल्लेख मौजूद हैं। जैनियों के देवाधि-देव तीर्थंकरों ने क्षत्रिय वंश में ही जन्म लिया था। क्षात्र-तेज के

बिना धर्म प्रकाशित नहीं होता। धर्म को प्रकाशित करने के लिए वीर क्षत्रियों ने अपने प्राण न्यौछावर कर दिये। जिन्होंने अपने प्राणों का भी उत्सर्ग कर दिया, उन्हें अपने तन का कितना मोह होगा, यह आप ही विचार लें। वास्तव में वही कुछ काम कर सकते हैं जिन्होंने अपने तन का मोह हटा दिया है। जिन्होंने अपने तन को धर्म से अधिक मूल्यवान् मान लिया शरीर को विलास का साधन समझ लिया, आमोद-प्रमोद को अपने जीवन का उद्देश्य स्वीकार कर लिया और जिन्होंने सुकुमार बन कर सुख-शय्या पर पड़े रहना ही अपना कर्त्तव्य बना लिया है, वे संसार में कुछ भी प्रकाश नहीं फैला सकते।

कई भाई कहते हैं—अभी पंचम काल है, कलिकाल है, अतएव हमारी उन्नति नहीं हो सकती। जब समय ही बदल गया तब परिस्थिति भी प्रतिकूल हो गई। मैं उनसे पूछना चाहता हूँ कि समय के बदल जाने का अर्थ क्या है ? वही पृथ्वी है, वही सूर्य है, सूर्य का उसी प्रकार उदय-अस्त हो रहा है। फिर बदल क्या गया है ? और यों देखो तो समय प्रतिक्षण बदलता ही रहता है। एक समय जो वर्तमान काल है वही दूसरे समय में भूतकाल बन जाता है और भविष्य क्रमशः वर्तमान रूप में परिवर्त्तित होता जा रहा है। इस प्रकार काल अनादि से लेकर अब तक अविराम गति से बदलता जा रहा है और सदैव निरन्तर बदलता चला जायगा। फिर इसी समय काल बदलने की शिकायत क्यों की जाती है ?

माना, काल बदल गया है और बदलता जा रहा है; पर काल ने तुम्हारे अभ्युदय की सीमा तो निर्धारित नहीं कर दी है ? काल ने किसी के कान में यह तो कह नहीं दिया है कि तुम अपने कर्त्तव्य की ओर ध्यान मत दो। अपने प्रयत्न त्याग कर निश्चेष्ट होकर बैठे रहो। काल को ढाल बना कर अपनी चाल को छिपाने का प्रयत्न करना

उचित नहीं है। अगर ऐसा हुआ तो काल का कुछ नहीं बिगड़ेगा— बिगाड़ तुम्हारा ही होगा। सचाई यह है कि जिनके ऊपर वर्णाश्रम की रक्षा और व्यवस्था का उत्तरदायित्व था वही लोग आज इन्द्रियों के दास बन कर अपने कर्त्तव्य को भूल गये हैं। अगर वे अपना उत्तरदायित्व समझ लें तो उन्नति होने में विलम्ब नहीं लगेगा।

मित्रो! विषम काल तो क्षत्रियों के लिये बड़ा अच्छा अवसर गिना जाता है। विषम काल में और विषम परिस्थितियों में वे अपने क्षात्र-धर्म का प्रदर्शन करते हैं। जिन क्षत्रिय वीरों ने अपनी वीरता के जौहर दिखाये वह विषम काल ही था। सच्चा शूरवीर क्षत्रिय विषम काल से नहीं डरता; इतना ही नहीं वह विषम काल में जूझ कर अपने क्षात्र-तेज को चमकाने के लिये उत्कण्ठित रहता है। जिस विषम काल में क्षत्रियों ने अपने वीर तेज का प्रदर्शन किया था, उस काल में उनके प्रतिपक्षियों का दंग रह जाना पड़ा था।

बहादुर क्षत्रिय जिस प्रकार अन्य अन्यायों को सहन नहीं कर सकते थे, उसी प्रकार रमणियों के आर्त्तनाद को भी सुन नहीं सकते थे। रमणियों की धर्मरक्षा के लिए उन्होंने अपने प्राण संकट में डाले, अनेक लड़ाइयाँ लड़ीं और घनघोर युद्ध किये।

वीर क्षत्रिय विलासमय जीवन को हेय और घृणित समझते थे। वे स्त्रियों की गोद में पड़ा रहना पसन्द नहीं करते थे। जिन क्षत्रियों ने विलासमय जीवन व्यतीत किया और जो रमणियों की गोद में पड़े रहे, उनकी क्या गति हुई, सो इतिहास के पन्ने पलटने से सहज ही विदित हो सकता है। जिन वीरों ने अपने आदर्श-जीवन से भारत का मस्तक ऊँचा उठाया था, उनका मस्तक विलासपूर्ण जीवन बिताने वालों और स्त्रियों के साथ हरदम पड़े रहने वालों ने नीचा कर दिया। आप वीरों में वीर पृथ्वीराज चौहान के इतिहास को

पढ़िये। उसने भारत के शत्रुओं को अनेक बार पराजित किया था। पर संयुक्ता के प्रेमपाश में वह ऐसा फँसा कि बारह वर्ष तक अन्तःपुर से बाहर न निकला। उसका फल यह हुआ कि शत्रुओं का बल बढ़ गया और उसे कैद होना पड़ा। शत्रुओं ने पृथ्वीराज को कैद किया अर्थात् समस्त भारतवर्ष को कैद कर लिया। एक वीर क्षत्रिय स्वतन्त्रता खो कर गुलाम क्या बना, सारे भारत को उसने गुलाम बना दिया। जो क्षत्रिय अपने धर्म से च्युत होकर अपने देश को च्युत कर देता है वह अत्यन्त पातकी है।

क्षात्रधर्म का विषय बहुत विस्तृत है। इस पर भलीभांति प्रकाश डालने के लिए कई दिनों तक भाषण करने की आवश्यकता है। किन्तु आज मुझे ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में बोलने की सूचना दी गई है, अतएव इसी विषय पर कुछ प्रकाश डालूंगा। क्षत्रियों के तेजस्वी जीवन का ब्रह्मचर्य से घनिष्ठ सम्बन्ध भी है। अतएव क्षत्रियधर्म में ब्रह्मचर्य का भी समावेश होता है।

ब्रह्मचर्य शब्द कैसे बना और ब्रह्मचर्य क्या वस्तु है, सर्वप्रथम इस बात का विचार करना चाहिए। हमारे आर्यधर्म के साहित्य में ब्रह्मचर्य शब्द का उल्लेख मिलता है। जिन दिनों, अवशेष संसार यह भी नहीं जानता था कि वस्त्र क्या होते हैं और अन्न क्या चीज़ है, नंग-धड़ंग रह कर, कच्चा मांस खाकर अपना पाशविक जीवन यापन कर रहा था, उन दिनों भारत बहुत ऊँची सभ्यता का धनी था। उस समय भी उसकी अवस्था बहुत उन्नत थी। यहाँ के ऋषियों ने, जो संयम, योगाभ्यास, ध्यान, मौन आदि अनुष्ठानों में लगे रहते थे, संसार में ब्रह्मचर्य नाम को प्रसिद्ध किया। ब्रह्मचर्य का महत्त्व तभी से चला आता है जब से धर्म की पुनः प्रवृत्ति हुई। भगवान ऋषभदेव ने धर्म में ब्रह्मचर्य को भी अग्र स्थान प्रदान किया था। साहित्य

की ओर दृष्टिपात कीजिये तो विदित होगा कि अत्यन्त प्राचीन साहित्य—आचारांग सूत्र तथा ऋग्वेद—में भी ब्रह्मचर्य की व्याख्या मिलती है। इस प्रकार आर्य प्रजा को अत्यन्त प्राचीन काल से ब्रह्मचर्य का ज्ञान मिलता रहा है।

आजकल ब्रह्मचर्य शब्द का सर्वसाधारण में कुछ संकुचित-सा अर्थ समझा जाता है। पर विचार करने से मालूम होता है कि वास्तव में उसका अर्थ बहुत विस्तृत है। ब्रह्मचर्य का अर्थ बहुत उदार है अतएव उसकी महिमा भी बहुत अधिक है। हम ब्रह्मचर्य का महिमागान नहीं कर सकते। जो विस्तृत अर्थ को लक्ष्य में रख कर ब्रह्मचारी बना है उसे अखण्ड ब्रह्मचारी कहते हैं। अखण्ड ब्रह्मचारी का मिलना इस काल में अत्यन्त कठिन है। आजकल तो अखण्ड ब्रह्मचारी के दर्शन भी दुर्लभ हैं। अखण्ड ब्रह्मचारी में अद्भुत शक्ति होती है। उसके लिए क्या शक्य नहीं है? वह चाहे सो कर सकता है। अखण्ड ब्रह्मचारी अकेला सारे ब्रह्माण्ड को हिला सकता है। अखण्ड ब्रह्मचारी वह है जिसने अपनी समस्त इन्द्रियों को और मन को अपने अधीन बना लिया हो—जो इन्द्रिय और मन पर पूर्ण आधिपत्य रखता हो। इन्द्रियाँ जिसे फुसला नहीं सकतीं, मन जिसे विचलित नहीं कर सकता। ऐसा अखण्ड ब्रह्मचारी ब्रह्म का शीघ्र साक्षात्कार कर सकता है। अखण्ड ब्रह्मचारी की शक्ति अजब-गजब की होती है।

ब्रह्मचर्य पालन करने वाले को अखण्ड ब्रह्मचर्य का आदर्श सामने रखना चाहिये। यद्यपि अखण्ड ब्रह्मचारी के दर्शन होना इस काल में कठिन हैं, तब भी उसके आदर्श को सामने रक्खे बिना सादा ब्रह्मचर्य भी यथावत् पालन करना कठिन है। कोई यह कह सकता है कि जब अखण्ड ब्रह्मचारी हमारे सामने ही नहीं है, तब उसका आदर्श अपने सामने किस प्रकार रक्खा जाय? इसका उत्तर

इस प्रकार है। भूमिति शास्त्र में भूमध्य रेखा का बड़ा महत्व है। भूमध्य रेखा सिर्फ एक कल्पना मात्र है। वास्तव में भूमध्य रेखा की कोई मोटाई नहीं है, फिर भी इस कल्पित भूमध्य रेखा को यथावस्थित करने से तमाम रेखाएँ खींची जाती हैं। इससे तमाम पृथ्वी-मण्डल का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। इसी प्रकार यदि अखण्ड ब्रह्मचर्य को थोड़ी देर के लिए कल्पित मान लिया जाय, तो भी उसे लक्ष्य बनाये रखने से सादे ब्रह्मचर्य का सम्यक् प्रकार से पालन किया जा सकता है। जैन शास्त्रों में पूर्ण ब्रह्मचारी की महिमा का मुक्त कण्ठ से गान किया गया है। जैन शास्त्रों में लिखा है कि अखण्ड ब्रह्मचारी को मनुष्य तो क्या, पर देवता, यक्ष, किन्नर आदि सब देव नमस्कार करते हैं। ब्रह्मचारी में देवों को नम्र बनाने की शक्ति किस प्रकार प्रादुर्भूत होती है, यह विषय बहुत गूढ़ है। यहाँ इसका गहरा प्रतिपादन किया जाय तो उपस्थित भाइयों में से बहुत कम उसे समझ सकेंगे। अतएव मैं अपूर्ण ब्रह्मचर्य की बात आपके सामने रखता हूँ। जो अपूर्ण को समझ लेगा वह बाद में पूर्ण को सरलता से समझ जायगा। अपूर्ण को समझे बिना पूर्ण को समझा नहीं जा सकता।

अपूर्ण ब्रह्मचर्य केवल वीर्य-रक्षा को कहते हैं। वीर्य वह वस्तु है जिसके सहारे सारा शरीर टिका हुआ है। यह शरीर वीर्य से बना भी है। अतएव आँखें वीर्य हैं, कान वीर्य हैं, नासिका वीर्य है, हाथ-पैर वीर्य हैं। सारे शरीर का निर्माण वीर्य से हुआ है, अतएव सारा शरीर वीर्य है। जिस वीर्य से सम्पूर्ण शरीर का निर्माण होता है उसकी शक्ति क्या साधारण कही जा सकती है? किसी ने ठीक ही कहा है :—

मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्।

अर्थात् वीर्य के ऊपर ही जीवन टिका है। वीर्यनाश का फल मृत्यु है।

परन्तु अफ़सोस है कि लोग बड़ी वस्तु को भूल जाते हैं और छोटी-सी चीज़ को महत्व देते हैं। छोटी को मान देना और बड़ी को भूल जाना, बस यहीं से मूर्खता आरम्भ होती है। एक सीधा-सा प्रश्न आपके सामने उपस्थित है। बताइये, आँख बड़ी है या सुरमा बड़ा है ?

'आँख बड़ी !'

फूटी आँख में कोई सुरमा डालता है ?

'नहीं !'

जो फूटी आँख में सुरमा आँजता है उसे आप क्या कहेंगे ?

'मूर्ख !'

आपसे तो प्रश्न हो चुका। अब एक प्रश्न बहिनों से भी करना है। बहिनो ! बताओ तुम्हारी नाक कीमती है या नथ ?

'नाक !'

कोई बहिन नाक कटवा कर नथ पहनना चाहे तो उसे आप क्या कहेंगी ?

'मूर्खा !'

क्योंकि पहले नाक, फिर नथ। जब नाक ही न होगी तो नथ कहाँ और कैसे पहनी जायगी ? जीभ को पान खाकर थोड़ी देर के लिए लाल करने से क्या लाभ है जब कि वह गन्दी हो रही हो। जिस मनुष्य ने वीर्य जैसी महत्वपूर्ण और जीवनाधार वस्तु को व्यर्थ के मज़ा-मौज में खर्च कर दिया वह सब से बड़ा मूर्ख गिना जाना चाहिए। जो वीर्य-रक्षा के उपदेश से चिढ़ता है उससे कहना चाहिए कि, तू क्यों चिढ़ता है ? क्या तू वीर्य से पैदा नहीं हुआ है ? क्या वीर्य का तेरे ऊपर उपकार नहीं है ? यदि है तो उसकी रक्षा के उपदेश से क्यों चिढ़ता है ?

और देशों में क्या होता है, यह प्रश्न मेरे सामने नहीं है। मैं भारतवर्ष को लक्ष्य करके ही कह रहा हूँ। भारतवासियों ने वीर्य का दुरुपयोग करके विविध प्रकार की व्याधियाँ विसाही हैं। करोड़ों मनुष्य वीर्य की यथोचित रक्षा न करने के कारण रोगों के शिकार हो रहे हैं। न जाने कितने हतवीर्य लोग आज भूख से तड़प रहे हैं, शोक से व्याकुल हैं। स्वतंत्रता की जगह गुलामी भोग रहे हैं। वीर्य का विनाश करके लोगों ने अपने पैर पर आप ही कुल्हाड़ा मारा है। यही नहीं, उन्होंने अपनी सन्तान का भविष्य भी अन्धकारमय बना डाला है। निर्बलों की सन्तान कितनी सबल होती होगी? आजकल के युवकों का तेजोहीन वदन, चेहरे पर पड़ी हुई झुर्रियाँ, झुकी हुई कमर और गड़हों में धँसी हुई आँखें देख कर तरस आये बिना नहीं रहता। यह सब जीवनतत्त्व की न्यूनता का द्योतक है। वीर्यनाश के ऐसे-ऐसे भयंकर परिणाम दिखाई दे रहे हैं फिर भी कुछ लोग झूठी लज्जा के वश होकर इस सम्बन्ध में प्रकट बात कहने का विरोध करते हैं। अरे रुई की पोटली में लगी हुई आग कब तक छिपेगी? वह तो आप ही प्रकट होगी। ऐसी स्थिति में वीर्यरक्षा का उपदेश देना जीवन की प्रतिष्ठा का उपदेश देना है।

जो वीर्य रूपी राजा को अपने काबू में कर लेता है वह सारे संसार पर अपना दावा रख सकता है। उसके मुख-मण्डल पर विचित्र तेज चमकता है। उसके नेत्रों से अद्भुत ज्योति टपकती है। उसमें एक प्रकार की अनोखी क्षमता होती है। वह प्रसन्न, नीरोग और प्रमोदमय जीवन का धनी होता है। उसके इस धन के सामने चाँदी-सोने के टुकड़े किसी गिनती में नहीं हैं।

मित्रो! तुम—ओसवाल भाई—पहले वीर क्षत्रिय थे। तुम्हारे विचारों में बनियापन बाद में आया है। अपने इन बनियापन के

विचारों को हृदय से निकाल दो। गीता में कहा है—'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः।' अर्थात् श्रद्धा से मनुष्य जैसा चाहे वैसा बन सकता है। तुम ओसवालों में किसी प्रकार का बिगाड़ नहीं हुआ है। तुम्हारे शरीर में शुद्ध क्षत्रियरक्त दौड़ रहा है। उठो! तुम्हारे उठे बिना बेचारा रक्त भी क्या करेगा? 'म्हें तो ढीली धोतीरा वाणिया हाँ' इस प्रकार की कायरतापूर्ण बातें कहना छोड़ो। हमने—साधुओं ने—तुम्हें बनिया नहीं बनाये थे, 'महाजन' बनाये थे। 'महाजन' का अर्थ 'बड़ा आदमी' होता है। 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' महाजन जिस मार्ग से जावें वही सुमार्ग है, अर्थात् वही मार्ग अनुसरणीय है। ऐसी लोकोक्ति तुम्हारे विषय में प्रचलित थी। तुम दुनिया को रास्ता बतलाने वाले थे।

एक समय आप लोगों में वह ताकत थी, ऐसी कुव्वत थी, जिसके प्रताप से राजा भी आपके आगे नतमस्तक होते थे। राज्य का शासन तुम्हारे ही हाथों में रहता था। अभी बहुत दिन नहीं बीते हैं, बीकानेर, उदयपुर, जयपुर आदि राज्यों के दीवान 'महाजन' ही थे। इतिहास इस बात की साक्षी दे रहा है कि आप महाजन क्षत्रिय थे।

'क्षतात्-नाशात् त्रायते-रक्षति, इति क्षत्रियः।' अर्थात् जो दुःख से मरते हुए को रक्षा करता है वह क्षत्रिय है। मनु ने तथा ऋषभदेव ने आपको संसार की रक्षा करने का भार सौंपा था। उन्होंने हुक्म दिया था कि दुर्बलों पर न अत्याचार करो, न करने दो। सच्चा क्षत्रिय निर्बलों का त्राता—रक्षक होता है। वह स्वयं मरना स्वीकार करेगा परन्तु अपने सामने निर्बलों को मरते न देख सकेगा। क्षत्रिय अपनी रक्षा के लिये दूसरे का मुंह नहीं देखेगा क्योंकि वह स्वयं रक्षित है। मनुष्य स्वयं रक्षित तभी बन सकता है जब उसने वीर्य की रक्षा की हो। वीर बनने के लिये पहले वीर्य की रक्षा करो। वीर्य हमारा जीवन

है। वीर्य हमारा माँ-बाप है, वीर्य हमारा ब्रह्म है। वीर्य हमारा तेज है। वीर्य हमारा सर्वस्व है। जो मूर्ख अपने सर्वस्व का नाश कर डालता है उसके बराबर हत्यारा दूसरा कौन है? जो मनुष्य करोड़ रुपया तोले की कीमत का अतर गधे के शरीर को चुपड़ता है उसे आप क्या कहेंगे?

'महामूर्ख!'

सभा में, सभ्यता की मर्यादा का ध्यान रखना ही चाहिए। इसीलिए नग्न सत्य नहीं कहना चाहता, फिर भी विचार कीजिये कि वीर्य करोड़ रुपया तोले की कीमत वाले अतर की अपेक्षा भी अधिक कीमती है, इतने कीमती पदार्थ को जो नीच स्त्रियों की तरफ आकृष्ट होकर कुचाल चलने की चेष्टा में फैंक देता है, उस नीच पुरुष को क्या कहा जाय? उसे किसकी उपमा दी जाय?

मित्रो! जो मूर्ख अमूल्य अतर गधे को लगा देगा वह बादशाह की इज्जत किससे करेगा? जो मनुष्य अपने अनमोल वीर्य रूपी अतर को नीच वेश्याओं को सौंप देगा वह संसार की पूजा—सेवा—किससे करेगा? याद रक्खो, वीर्य में बड़ी भारी शक्ति है। इस शक्ति के प्रभाव से इन्द्र आदि बड़े-बड़े देवता भी पीपल के पत्ते की भाँति थरथर काँपने लगते हैं। महाभारत में एक स्थल पर वर्णन है कि अर्जुन ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ तप कर रहा था। उसकी उग्र तपस्या देख कर इन्द्र को भय हुआ कि कहीं अर्जुन मेरा राज्य न छीन ले। मैं कहीं इन्द्र-पद से भ्रष्ट न कर दिया जाऊँ! इस प्रकार भयभीत होकर इन्द्र ने बहुत विचार किया। जब उसे कोई उपाय न सूझ पड़ा तब उसने रम्भा नामक एक अप्सरा को बुला कर कहा—'रम्भे, जाओ और अपने छल-कौशल से अर्जुन का ब्रह्मचर्य खण्डित करके उसे तपोभ्रष्ट कर डालो।

रम्भा सुसज्जित होकर अर्जुन के पास गई। वह अपना हाव-भाव दिखा कर बोली—'हा हा नाथ! मेरे प्रियतम! यह नाशकारी मन्त्र आपको किस गुरु ने बतलाया है? इस मन्त्र के पीछे पड़ कर मनुष्यत्व से क्यों हाथ धो रहे हो? मैं आपकी सेवा में उपस्थित हूँ। तपस्या करके भी मुझ से बढ़िया कौन सी चीज पा जाओगे? जब मैं उपस्थित हो गई हूँ तब तपस्या करना निष्फल है। इस कायक्लेश को त्यागिये और मुझे ग्रहण कर मानव-जीवन को सफल बनाइये!'

अर्जुन अपनी तपस्या में मगन था। वह रम्भा को माता के रूप में देख रहा था।

रम्भा ने अपना सारा कौशल आज़मा लिया। उसने विविध प्रकार के हाव-भाव दिखाये और अर्जुन को तपस्या से च्युत करने के लिए सभी कुछ कर डाला; पर अर्जुन नहीं डिगा सो नहीं डिगा। अर्जुन मानो सोच रहा था—माता अपने बालक को किसी प्रकार मनाना चाहती है!

रम्भा सब तरह से हार गई। वह अर्जुन का वीर्य न खींच सकी। तब उसने अपना अन्तिम अस्त्र काम में लिया; क्योंकि वह सिखलाई हुई थी, गुलाम थी, पुरुष की विषय-वासना की दासी थी। वह नग्न हो गई।

रंभा अप्सरा थी। उसका रूप-सौन्दर्य कम नहीं था। तिस पर अर्जुन को तपोभ्रष्ट और ब्रह्मचर्य-भ्रष्ट करने के उद्देश्य से उसने अपने दैवी बल से अद्भुत आकर्षक रूप धारण किया। उसने काम-देव की ऐसी फुलवाड़ी खिलाई कि न मोहित होने वाला भी मोहित हो जाय। परन्तु वीर अर्जुन तिलमात्र भी न डिगा। उसका मन-मेरु रंच मात्र भी विचलित नहीं हुआ। उसने मुस्किरा कर कहा—'माता

अगर आपने इस सुन्दर शरीर से मुझे जन्म दिया होता तो मुझ में और अधिक तेज आ जाता !'

रंभा लज्जित हुई। वह अर्जुन से परास्त हुई। उसने अपना रास्ता पकड़ा।

अर्जुन की प्रतिज्ञा थी कि जो मेरे गांडीव धनुष की निन्दा करेगा उसका मैं सिर उड़ा दूंगा। मित्रो! अर्जुन यदि वीर्यशाली न होता तो क्या ऐसी भीषण प्रतिज्ञा कर सकता था? कदापि नहीं! वीर्यबल के सामने शस्त्र का बल तुच्छ है। अर्जुन जब अपने धनुष की निन्दा नहीं सह सकता था तब क्या वह अपने वीर्य की निन्दा सहन कर लेता? नहीं। क्योंकि वीर्य के बिना धनुष काम नहीं आ सकता। अतएव धनुष कम कीमती है और वीर्य अधिक मूल्यवान् है।

हे क्षत्रिय पुत्रो! ऐ पाण्डवों की सन्तानो! जिस वीर्य के प्रताप से तुम्हारे पूर्वजों ने विश्व भर में अपनी कीर्त्ति-कौमुदी फैलाई थी, उस वीर्य का तुम अपमान करोगे?

वीर्य का अपमान क्या है और कैसे होता है, इसे समझ लीजिये। लुभावने राग-रंग में लीन होकर विलासमय जीवन व्यतीत करना ही वीर्य का अपमान है। क्या आप 'नोबिल स्कूल' के क्षत्रिय कुमार वीर्य का अपमान न करने की प्रतिज्ञा कर सकते हैं? आप क्षत्रिय हैं। वीरता के साथ बोलिये—हाँ, हम अपमान न करेंगे।

वीर्य का अपमान न करने से मेरा आशय यह नहीं है कि आप विवाह ही न करें। मैं गृहस्थ-धर्म का निषेध नहीं करता। *गृहस्थ को अपनी पत्नी के साथ मर्यादा के अनुसार रहना चाहिये।* वीर्य का अपमान करने का अर्थ है—गृहस्थ-धर्म की मर्यादा का उल्लंघन करके पर-स्त्री के मोह में पड़ना, वेश्यागामी होना अथवा

अप्राकृतिक कुचेष्टायें करके वीर्य का नाश करना। पितामह भीष्म ने आजीवन ब्रह्मचर्य पाला था। आप उनका अनुकरण करके जीवन-पर्यन्त ब्रह्मचर्य पालें तो खुशी की बात है। अगर आपसे यह नहीं हो सकता तो विधिपूर्वक लग्न कर सकने की मनाई नहीं है। पर विवाहिता पत्नी के साथ भी सन्तानोत्पत्ति के सिवाय—ऋतुदान के अतिरिक्त वीर्य का नाश नहीं करना चाहिये। स्त्रियों को भी यह चाहिये कि वे अपने मोहक हाव-भाव से पति को विलासी बनाने का प्रयत्न न करें। जो स्त्री सन्तानोत्पत्ति की इच्छा के सिवाय केवल विलास के लिए अपने पति को विलास में फँसाती है वह स्त्री नहीं पिशाचिनी है। वह अपने पति के जीवन को चूसने वाली है।

आप परस्त्री-सेवन का त्याग करें, यह किसी पर ऐहसान नहीं है। यह तो अपने आपके लिए लाभदायक है। कल्याणकारक है। भारतवर्ष का यह दुर्भाग्य है कि आज भारत की सन्तान को वीर्य-रक्षा का महत्व समझाना पड़ता है!

ऐ भीष्म की सन्तानो! भीष्म ने आजीवन ब्रह्मचर्य पालन करके दुनिया के कानों में ब्रह्मचर्य का पावन मन्त्र फूंका था। आज उन्हीं की सन्तान कहलाते हुए उन्हीं के मन्त्र को क्यों भूल रहे हो? भीष्म गंगा का पुत्र था। उसने अपने पिता शान्तनु के लिए आजीवन ब्रह्मचर्य पाला था। ब्रह्मचर्य के प्रताप से उन दिनों भीष्म के बराबर बलशाली संसार में दूसरा कोई नहीं था। लोगों ने हाथ जोड़ कर उनसे प्रार्थना की—'महाराज! आप संसार को हानि पहुँचा रहे हैं।'

भीष्म बोले—कैसे?

लोगों ने उत्तर दिया—अन्नदाता, वीर पुरुषों की सन्तान भी वीर होती है। आप संसार में अद्वितीय वीर्यशाली वीर हैं। आप विवाह नहीं करेंगे तो आपके पश्चात् कौन वीर कहलाने योग्य होगा?

पितामह ने हँसकर कहा—भाइयो, तुम ने ठीक कहा। यदि मैं विवाह कर लेता तो मेरी एक-दो सन्तान वीर होतीं। पर मेरे आजीवन ब्रह्मचर्य को देखकर कितनी सन्तान वीर बनेगी, इसका भी अन्दाज़ आपने लगाया ?

अहा ! पितामह भीष्म ने जिस उच्चतर ध्येय को अपने सामने रखकर ब्रह्मचर्य-व्रत का आदर्श खड़ा किया, उसी ध्येय के प्रति उनकी ही सन्तान उदासीनता दिखला रही है ! यह देखकर पितामह क्या कहते होंगे ?

कई श्रावक गर्दन हिलाते हुये कहते हैं—'महाराज, बत्ती तो सरदा कोयनी, पाँच दिनरा पचक्खाण करा दो। (अधिक तो श्रद्धा है नहीं, पाँच दिन का त्याग करा दीजिये)' अफसोस ! श्रावक का नाम धराते हैं पर श्रावक के कर्त्तव्यों का ज्ञान ही नहीं है ! सच्चा श्रावक ऋतुकाल के अतिरिक्त विषय-सेवन करता ही नहीं है। उसके बदले यहाँ यह हालत है कि पाँच दिन का त्याग किया जाता है और वह भी इस प्रकार कह कर, मानो महाराज पर ऐहसान कर रहे हैं ! 'पाँच दिनरा पचक्खाण करा द्यो, बत्ता नहीं'; कितनी कायरता है ! विषय-लम्पटता का कितना दौर चल रहा है, यह इस बात का प्रमाण है और हम समझते हैं—गूंगा 'बा' बोला यही गनीमत है—बोलना तो सीखा ! सर्वथा भोग से कुछ त्याग तो अच्छा ही है।

वीर्यरक्षा की साधना करने वाले को अपनी भावना पवित्र बनाये रखने की बड़ी आवश्यकता है। उसे चाहिये कि वह कुत्सित विचारों को पास न फटकने दे। सदा शुद्ध वातावरण में रहना, शुचि विचार रखना, आहार-विहार सम्बन्धी विवेक रखना; ब्रह्मचर्य के साधक के लिए अतीव उपयोगी है। ऐसा किये बिना वीर्य की भलीभाँति रक्षा होना संभव नहीं है।

बालकों के सम्बन्ध में इन बातों पर ध्यान रखना उनके माता-पिता एवं संरक्षकों का काम है। पर अभागे भारत में जो न हो वही गनीमत है। बचपन से ही बालक-बालिकाओं में ऐसे भाव भरे जाते हैं कि छोटी अवस्था में ही वे बिगड़ जाते हैं। लोग बालिका को प्यार करते हैं तब कहते हैं—'नानी, थारे बींद कैसो लावां ?' और बालक को कहते हैं—'नान्या, थारे बींदणी कैसी लावां ?' इस प्रकार की विकारजनक बातें बालक-बालिकाओं के कोमल मस्तिष्क में घूम कर उन पर क्या प्रभाव डालती हैं ? इससे वे सोचने लगते हैं कि बालक बींदणी—पत्नी पाने के लिये और बालिकायें बींद—पति प्राप्त करने के लिये ही हुये हैं।

मित्रो ! जरा विचार करो। तुम जिसे प्यार कहते हो—समझते हो, वह प्यार नहीं, संहार है—सन्तान के जीवन को मिट्टी में मिला देने वाला मन्त्र है। यह तुम्हारा आमोद-प्रमोद नहीं है वरन बालक-बालिकाओं की स्वाभाविक शक्ति को समूल नष्ट कर देने वाला कुल्हाड़ा है।

मित्रो ! दिल चाहता है, लज्जा के पर्दे को फाड़ कर सारी बातें तुम्हें साफ़ २ बतला दूं; पर परिस्थिति मना कर रही है।

आजकल की शिक्षा की ओर जब दृष्टिनिपात करते हैं तब और भी निराशा होती है। आधुनिक शिक्षापद्धति खोखली नजर आती है। शिक्षा का ध्येय जीवन-निर्माण अथवा चरित्रगठन होना चाहिए। 'ज्ञानं भारः क्रियां विना।' अर्थात् चरित्रहीन ज्ञान जीवन का बोझ है। आज शिक्षा के नाम पर यही बोझ लादा जा रहा है। आधुनिक शिक्षा-पद्धति इतनी दूषित हो गई है कि उसमें चरित्र का कोई स्थान ही नहीं प्रतीत होता। यही कारण है कि हमारे देश की दुर्दशा हो

रही है। हमारे प्राचीन शास्त्रप्रणेताओं ने ज्ञान का फल चारित्र बतलाया है। जिस ज्ञान से चारित्र का लाभ नहीं होता वह ज्ञान निष्फल है—अकारथ है। उससे जीवन का अभ्युदय-साधन नहीं हो सकता।

शिक्षा का विषय स्वतन्त्र है और उस पर यहाँ विस्तार-पूर्वक विवेचन नहीं किया जा सकता। अतएव शिक्षा-पद्धति की चर्चा न उठाते हुए विद्यार्थियों के हाथ में आने वाली पुस्तकों के सम्बन्ध में ही दो शब्द कहते हैं। विद्यार्थियों के हाथ में मन बहलाने के लिये प्रायः उपन्यास और नाटक आते हैं। किन्तु बहुत से उपन्यास और नाटक ऐसे क्षुद्र लेखकों द्वारा लिखे गये हैं जिनमें कुत्सित भावनाओं को जागृत करने वाली सामग्री के सिवाय और कुछ नहीं मिलता। जब कभी ऐसी पुस्तक अनजान में हमारे हाथ आ जाती है तब उसे देखकर दिल दहलने लगता है, यह सोच कर कि ऐसी जघन्य पुस्तकें विद्यार्थी-समाज का कितना सत्यानाश करती होंगी? इन पुस्तकों के भावों को देखकर हृदय में संताप का पार नहीं रहता।

प्यारे विद्यार्थियो! अगर तुम अपना जीवन सफल और तेजोमय बनाना चाहते हो तो ऐसी पुस्तकों को कभी हाथ मत लगाना; अन्यथा वे तुम्हारा जीवन मिट्टी में मिला देंगी। अगर तुम अपने अनुभवशील शिक्षकों से अपने लिये सत्साहित्य का चुनाव करा लोगे तो तुम्हारा बड़ा लाभ होगा। इससे तुम्हारे पथ-भ्रष्ट होने की सम्भावना नहीं रहेगी। तुम्हारा मस्तिष्क गन्दगी का खजाना नहीं बन पायगा।

भाइयो, तुम्हें सत्पुरुषों की संगति करनी चाहिये। हृदय में धार्मिक भावना भरनी चाहिये। जो बुरे विचार तुम्हारे दिमाग में भर गये हों उन्हें उत्तमोत्तम पुस्तकों का पठन करके दूर कर देना चाहिए।

प्राचीन काल की माताएँ बचपन से ही अपने बालक को सदुपदेश दिया करती थीं। वे मनचाही सन्तति उत्पन्न कर सकती थीं। मार्कण्डेय पुराण में मदालसा का चरित्र वर्णन किया गया है। उससे विदित होता है कि मदालसा अपने पुत्र को आठ वर्ष की उम्र में तपस्या करने के लिए भेजना चाहती थी। उसके जब पुत्र उत्पन्न हुआ तभी से उसने उसे अपने भावों का पाठ पढ़ाना आरम्भ कर दिया। यही पाठ उसे पालने में लौरियों के रूप में सिखाया गया। गर्भ के संस्कारों से तथा शैशव काल में प्रदत्त संस्कारों के कारण वह पुत्र इतना तेजस्वी और बुद्धिशाली हुआ कि आठ वर्ष की उम्र में संसार त्याग कर वनवासी हो गया। इस प्रकार मदालसा ने अपने सात पुत्रों को तपस्या करने के लिए जंगल में भेज दिया। एक बार राजा ने रानी मदालसा से कहा—'मदालसे, तू सब पुत्रों को जंगल में भेज देती है। मेरा राज्य कौन सम्भालेगा?'

हँस कर मदालसा ने कहा—नाथ, आप चिन्ता न कीजिये। मैं आपको एक ऐसा पुत्र दूंगी जो महा तेजस्वी महाराजा कहला सकेगा।

मदालसा ने ऐसा ही आठवाँ पुत्र पैदा किया। उसने बड़ी योग्यता के साथ राज्यकाज सम्भाला और प्रजा का पालन किया।

भावना क्या नहीं कर सकती? **'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।'** जैसी जिसकी भावना होती है उसे वैसी ही सिद्धि मिलती है।

खेद है कि आज की भावना अत्यन्त मलीन हो रही है। खान-पान बहुत बिगड़ा हुआ है। जिस भोजन को २५-३०-४० वर्ष के मनुष्य करें वही भोजन बच्चे को खिलाया जाता है। क्या बड़ों का और बच्चों का भोजन एक सरीखा हो सकता है? बड़ों की थाली में चमचमाट करते मसाले वाले शाक आते हैं, क्या वही शाक बालकों

के लिये उपयुक्त है ? तले हुए पदार्थ कितनी हानि पहुँचाते हैं यह बात आप लोग जानते होंगे। यह चटपटा और फरफरा भोजन करा कर बालक के ब्रह्मचर्य को आग क्यों लगाते हो ? बेचारा बालक निसर्गतः अभ्यासी न होने पर भी सी-सी करता हुआ तुम्हारे जरिये चटपटे मसाले खाने का अभ्यासी बनता है। जिन मिर्चों की पिसी हुई लुगदी कुछ घण्टों तक हाथ के चमड़े पर रखने से फुंसियाँ उठ आती हैं, वे मिर्चें पेट में जाकर आंतों को जला कर कितनी निर्बल बनाती होंगी, यह समझना कठिन नहीं है। बालकों के लिये और ब्रह्मचर्य पालने वाले युवकों के लिए चटपटे मसाले हलाहल विष के समान हैं। उनका त्याग करने में ही कल्याण है।

ब्रह्मचर्य की आराधना करने वालों को—शक्ति की उपासना करने वालों को सात्विक भोजन ही अनुकूल और लाभप्रद होता है; यह आयुर्वेद का मत है। सात्विक भोजन मस्तिष्क की शक्ति बढ़ाने वाला, बुद्धि देने वाला और बल उत्पन्न करने वाला है। डाक्टरों के मत भी आयुर्वेद के इस विधान का अनुमोदन करते हैं।

अच्छा एक बात आप बताइये। जवाहरात पैरिस में अधिक हैं या हिन्दुस्तान में ? अमेरिका और इंग्लैण्ड में माणिक मोती ज्यादा हैं या भारत में ?

'पैरिस में !'

मगर पैरिस के तथा अमेरिका और इंग्लैण्ड के अनेक स्त्री-पुरुष अपने बालकों को भारत में लाते हैं। उन्हें तो हमने आपकी भाँति जवाहरात में लदा हुआ कभी नहीं देखा। इसका क्या कारण है ?

'वे पसन्द नहीं करते !'

वे पसन्द नहीं करते और आप पसन्द करते हैं। हमारे यहाँ आभूषण इतने अधिक पसन्द किये जाते हैं कि जिनके यहाँ सच्चे माणिक मोती नहीं हैं वे बहिनें अपने बच्चों को सिंगारने के लिए खोटे जेवर पहनाती हैं पर पहनाये बिना नहीं मानतीं। कहीं-कहीं तो लोक-दिखावे के लिए आभूषणों की थोड़े दिनों के लिए भीख मांगी जाती है और उन आभूषणों से हीनता का अनुभव करने के बदले महत्ता का अनुभव किया जाता है। क्या यह घोर अज्ञान का परिणाम नहीं है? आभूषण न पहनने वाले यूरोपियन क्या हीन दृष्टि से देखे जाते हैं? फिर आपको ही क्यों अपनी सारी महत्ता आभूषणों में दिखाई देती है?

आभूषणों से लाद कर बच्चों को खिलौना बनाना आप पसन्द करते हैं, पर उनके भोजन की ओर अक्षम्य उपेक्षा रखते हैं। यह कैसी दोहरी भूल है? ज़रा अपने बच्चे का खाना किसी अंग्रेज बच्चे के सामने रखिये। वह तो क्या उसका बाप भी वह भोजन नहीं खा सकेगा, क्योंकि हमारा भोजन इतना चटपटा होता है कि बेचारों का मुंह जल जाय!

तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचर्य पालने वालों को अथवा जो ब्रह्मचर्य पालना चाहते हैं उन्हें विलासपूर्ण वस्त्रों से, आभूषणों से तथा आहार से सदैव बचते रहना चाहिये। मस्तिष्क में कुविचारों का अंकुर उत्पन्न करने वाले साहित्य को हाथ भी नहीं लगाना चाहिये। जो पुस्तकें धर्म, देश-भक्ति की भावना जागृत करने वाली और चारित्र को सुधारने वाली होती हैं उनमें सरकार राजनीति की गन्ध सूंघती है और उन्हें जब्त कर लेती है, पर जो पुस्तकें ऐसा गन्दा और घासलेटी साहित्य बढ़ाती हैं, प्रजा का सर्वनाश कर रही हैं, उनकी ओर से वह सर्वथा उदासीन रहती है। यह कैसी भाग्य-विडम्बना है!

अमेरिका, इंग्लेण्ड, जर्मनी और जापान की सरकार वहाँ के साहित्य पर खूब ध्यान रखती है। वहाँ कुत्सित भावना भरने वाली पुस्तकें विद्यार्थियों के हाथों में नहीं पहुँच सकतीं। यही कारण है कि वहाँ की सन्तान देशभक्त और चारित्रवान् है। वहाँ के बालक ऐसी पुस्तकें पढ़ते हैं जिनसे उनकी जातीय भावना सुदृढ होती है। सत्साहित्य का जीवन के निर्माण में कितना महत्वपूर्ण स्थान है, यह बात शिवाजी के जीवन से समझी जा सकती है।

शिवाजी किसी राजा-महाराजा के पुत्र नहीं थे। वे एक साधारण सिपाही के लड़के थे। उनकी माता जीजी बाई ने बचपन से ही उन्हें रामायण और महाभारत आदि की कथाएँ सुनाईं। मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र तथा पाण्डवों की वीरतापूर्ण पवित्र जीवनियाँ कण्ठस्थ करा दीं। समय पाकर उन्होंने शिवाजी के अन्दर कैसी वीरता और चरित्रनिष्ठा उत्पन्न कर दी, सो आज कौन नहीं जानता? पवित्र कथाओं ने एक साधारण सिपाही के लड़के को महाराजा शिवाजी बना दिया। जनता आज भी उनके नाम से प्रेरणा प्राप्त करती है, उनकी प्रतिष्ठा करती है और उन्हें अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखती है। लोग गाते हैं—

शिवाजी न होते तो सुन्नत होती सब की।

एक बार शिवाजी किसी जंगल की गुफा में बैठे थे। उनका एक सिपाही किसी सुन्दरी स्त्री को जबर्दस्ती उठा लाया। उसने सोचा था—इसे महाराज शिवाजी की भेंट करूंगा तो महाराज मुझ पर प्रसन्न होंगे। लेकिन जब उस रोती-कलपती हुई रमणी की आवाज शिवाजी के कानों में पड़ी तो वह उसी समय गुफा से बाहर निकल आये। उन्होंने देखते ही सिपाही से कहा—'अरे कायर! इस बहिन को यहाँ किस लिए लाया है?'

शिवाजी के मुंह से बहिन शब्द सुनते ही सिपाही चौंक उठा। वह सोचने लगा—'गजब हो गया जान पड़ता है। मैं इसे लाया किस लिए था और होना क्या चाहता है! चौबेजी छब्बे बनने चले तो दुबे ही रह गये!' सिपाही कुछ नहीं बोला। वह नीची गर्दन किये लज्जित भाव से मौन हो रहा। शिवाजी ने कड़क कर कहा—'जाओ, इस बहिन को पालकी में बिठला कर आदर के साथ इसके घर पहुँचा आओ।'

मित्रो! एक सच्चे वीर्यशाली और चारित्रवान् व्यक्ति के सत्कार्य को देखो। अबलाओं पर दूसरों द्वारा किये जाने वाले अत्याचारों का निवारण करना वीर पुरुष का कर्त्तव्य है, न कि उन पर स्वयं अत्याचार करना। इस कथा से तुम बहुत कुछ सीख सकते हो।

शिवाजी का पुत्र शम्भाजी था। वह शिवाजी से ज्यादा वीर-धीर और गम्भीर था परन्तु वह सुरा और सुन्दरी के फेर में पड़ गया था। सुरा अर्थात् मदिरा और सुन्दरी अर्थात् वेश्याओं से उसे बहुत प्रेम हो गया था।

उन दिनों भारत का सम्राट् औरंगजेब था। राठौर वीर दुर्गादास एक बार शम्भाजी के पास दक्षिण में आया। शम्भाजी शराब के शौकीन थे ही। उन्होंने एक प्याला भर कर दुर्गादास के सामने किया। दुर्गादास ने कहा—क्षमा कीजिये, मुझे तो इसकी आवश्यकता नहीं है। मैंने इसे माता के समर्पण कर दिया है और यह अर्ज की है कि माता! तू ही इसे ग्रहण कर सकती है। मुझ में इसे ग्रहण करने की शक्ति कहाँ!

दुर्गादास ने जो कुछ कहा उससे शंभाजी रूठ गया। दुर्गादास वहाँ से रवाना होकर शहर के बाहर किसी बगीचे में ठहर गया।

मध्य रात्रि का समय था। चारों ओर वातावरण में निस्तब्धता छाई हुई थी। लोग निद्रा की गोद में बेसुध हो विश्राम कर रहे थे। ऐसे समय में दुर्गादास को नींद नहीं आ रही थी। वह इधर से उधर करवट बदल रहा था। इसी समय उसके कानों में एक आर्त्तनाद सुनाई पड़ा। 'हाय! कोई बचाने वाला नहीं है? बचाओ! दौड़ो! रक्षा करो! रक्षा करो! हाय रे!

दुर्गादास तत्काल उठ कर खड़ा हो गया। उसके कानों में फिर वही करुण-क्रन्दन सुनाई दिया। दुर्गादास ने सोचा—'किसी अबला की आवाज जान पड़ती है। चलकर देखना चाहिए, बात क्या है?' इस प्रकार सोच कर वह बाहर निकले। इसी समय एक अबला दौड़ी आई और चिल्लाने लगी—'रक्षा करो! बचाओ!

वीर दुर्गादास सान्त्वना देते हुये—बहिन, इधर आ जाओ।

स्त्री को ढाढस बँधा। वह अन्दर आकर बैठ गई।

कुछ ही समय बीता था कि हाथ में तलवार लिये शम्भाजी दौड़ते हुये वहाँ आये। वह बोले—इस मकान में हमारा एक आदमी आया है।

दुर्गादास—शंभाजी, जरा सोच-विचार कर बात करो।

शंभाजी—(पहिचान कर) ओह दुर्गादास! भाई, तुम्हारे इधर हमारा एक आदमी आया है। उसे हमें लौटा दो।

दुर्गादास—यहाँ कोई आदमी तो आया नहीं है, एक औरत आई है।

शंभाजी—जी हाँ, उसी को तो माँग रहा हूँ।

दुर्गादास—मैं उसे हर्गिज़ नहीं दे सकता। वह मेरी शरण में है।

शंभाजी—तुम्हें उससे क्या प्रयोजन है ?

दुर्गादास—प्रयोजन क्या है ? कुछ भी नहीं। मगर कह रहा हूँ, वह मेरी शरण में आई है। मैं क्षत्रिय हूँ। शरणागत की रक्षा करना मेरा परम धर्म है। तुम क्षत्रिय होकर भी क्या यह नहीं जानते ?

शंभाजी—मैं सब कुछ जानता हूँ। सब कुछ समझता हूँ। परन्तु मेरी चीज मुझे लौटा दो वर्ना ठीक न होगा।

दुर्गादास—मैं अपने धर्म से कैसे च्युत होऊँ ?

शंभाजी—तुम्हारे हाथ में तलवार नहीं है। तलवार होती तो दो हाथ अभी दिखाता।

दुर्गादास व्यंग की हँसी हँस कर बोले—उस अबला के हाथ में तलवार है, इसलिए तुम उस पर वार करना चाहते हो !

शंभाजी—इतनी धृष्टता ! अच्छा, अपनी तलवार हाथ में लेकर जरा अपना कौशल तो दिखलाओ। आज तुम्हें अपनी शूर-वीरता का पता चल जायगा।

दुर्गादास ने अपनी तलवार सम्भाली। दोनों की मुठभेड़ हुई। मौका पाकर दुर्गादास ने शंभाजी के हाथ से तलवार छीन ली। उन्होंने कहा—कहो शंभाजी, अब क्या करोगे ?

शंभाजी चुप हो गया। इतने में उसके सिपाही आ पहुँचे। दुर्गादास ने उनके साथ युद्ध करना व्यर्थ समझा। सिपाहियों ने उन्हें बन्दी बना लिया।

शंभाजी का एक यवन मित्र था—कवालीखाँ। वह बादशाह औरंगजेब का भेजा हुआ गुप्तचर था। शंभाजी को पथ-भ्रष्ट कर देना

उसका काम था। वह दुश्चरित्रा स्त्रियों को—वेश्याओं को—शम्भाजी के पास लाता था। शंभाजी ऐसे बेभान हो गये थे कि उसे अपना मित्र मानते थे और अपने सच्चे हितैषी दुर्गादास को दुश्मन समझते थे।

औरंगजेब का ढिंढोरा पिटा हुआ था कि दुर्गादास को कैद कर लाने वाले को इनाम दिया जायगा। कवालोखाँ को यह अच्छा अवसर मिला। उसने शंभाजी से कहा—'महाराज! इस बन्दी को मुझे सौंप दीजिए। मैं इसे बादशाह के पास ले जाऊँगा और अच्छा इनाम पाऊँगा।'

शंभाजी ने उसे सौंप दिया। उसने बादशाह को ले जाकर सौंप दिया। बादशाह ने कवालीखाँ को अच्छा इनाम दिया।

बादशाह की बेगम गुलेनार वीर दुर्गादास पर मोहित हो चुकी थी। पर उसे दुर्गादास से मिलने का अभी तक अवसर नहीं मिला था। दुर्गादास को कैद हुआ देख उसे बड़ी खुशी हुई। वह बादशाह से बोली—दुर्गादास मेरा पक्का दुश्मन है। उसे मेरे सिपुर्द कर दीजिये। मैं उसे सीधा करूँगी।

बादशाह गुलेनार की उंगली के इशारे पर नाचता था। उसने दुर्गादास को बेगम के सिपुर्द कर दिया।

बेगम को स्वर्ण-अवसर मिल गया। वह रात्रि के समय सोलहों सिंगार करके जहाँ दुर्गादास कैद था वहाँ पहुँची। अपने साथ वह एक लड़के को लेती गई थी। लड़के के हाथ में नंगी तलवार देकर उसने कहा—देखो, भीतर कोई न आने पावे।

बेगम दुर्गादास के पास जाकर बोली—आपको मैंने तकलीफ दी है। इसके लिए माफ़ कीजिए। मैं आप पर फ़िदा थी, इसीलिए

बादशाह को कह-सुन कर आपको कैद करवाया है। आपके कैद होने का यह कारण है कि मैं ऐशो-आराम से आपके साथ रहूँ। आपकी खूबसूरती ने आपको कैद करवाया है। मैं तैयार होकर आई हूँ।

दुर्गादास—मेरी माँ, मुझे क्षमा करो। तुम मेरी माँ के समान हो। मैं पराई स्त्रियों को दुर्गा के समान समझता हूँ। तमाम स्त्रियाँ जगज्जननी का अवतार हैं। मुझे माफ़ करो, बेगम !

गुलेनार—जानते हो दुर्गादास, तुम किससे बात कर रहे हो ?

दुर्गादास—मैं नारी रूप में एक माता से बात कर रहा हूँ।

गुलेनार—देखो, कहना मानो। सब तकलीफ़ों से छुटकारा पा जाओगे। दिल्ली की यह बादशाहत मेरे हाथ में है। मैं इस बादशाह को नहीं चाहती। अगर तुम मेरा कहना मान लोगे तो रात ही रात में बादशाह को कत्ल करवा डालूँगी। दिल्ली की बादशाहत तुम्हारे हाथ में होगी।

दुर्गादास—मुझे इस प्रकार बादशाहत की जरूरत नहीं है। तुम्हारी बादशाहत तुम्हीं को मुबारिक हो।

गुलेनार—देखो, खूब समझ-बूझ लो। जैसे बादशाहत देना मेरे हाथ है उसी तरह तुम्हारा सिर उतरवा लेना भी मेरे हाथ की बात है।

दुर्गादास—मुझे बड़ी खुशी होगी अगर मेरा सिर दुर्गारूप तुझ देवी के चरणों में लोटेगा।

दुर्गादास और बेगम के बीच इस प्रकार बातचीत हो रही थी। कार्यवश बादशाह का सिपहसालार उधर होकर जा रहा था। उसने रुक कर दोनों की बातें सुनी तो वह दंग रह गया। दुर्गादास के प्रति उसके दिल में आदर का भाव जागृत हो गया।

बेगम कहीं दुर्गादास की गर्दन न उतार ले, इस भाव से वह भीतर चला गया। दुर्गादास के चरणों में गिर कर उसने कहा— 'दुर्गादास, तुम इन्सान नहीं पीर हो; कोई पैगम्बर हो।'

बेगम चौंकी। वह बोली—सिपहसालार, तुम यहाँ कैसे ?

सिपहसालार—इस पैगम्बर को सिर झुकाने के लिए।

गुलेनार—इतनी गुस्ताखी ?

सिपहसालार—यह बदतमीज़ी ?

गुलेनार—जबान सँभाल! किससे बात कर रहा है ?

सिपहसालार—मैं सब सुन चुका। अपनी अक्लमन्दी रहने दो।

असत्य स्वभावतः निर्बल होता है। बेगम थर-थर काँपने लगी। सेनापति ने दुर्गादास को मुक्त कर दिया और जोधपुर की ओर रवाना करने लगा।

दुर्गादास ने कहा—मैं बादशाह का बन्दी हूँ। तुम मुझे मुक्त कर रहे हो। कदाचित् बादशाह जान गये तो तुम विपदा में पड़ जाओगे। बादशाह तुम्हारा सिर उतार लेंगे।

सेनापति—आप निश्चिन्त रहें। मेरा सिर उतारने वाला कोई नहीं।

इधर दुर्गादास रवाना हुआ और उधर बेगम गुलेनार ने जहर का प्याला पीकर अपने प्राण त्यागे।

बादशाह को सब समाचार मिले। उसने शम्भाजी को कैद कर बुलाया। अन्त में शम्भाजी बड़ी बुरी तरह मारा गया।

मेरे प्यारे मित्रो! आपने इस वृत्तान्त में क्या सुना? एक ओर सुरा और सुन्दरी की उपासना करने वाले शम्भाजी की कुमौत और दूसरी ओर चरित्रनिष्ठ वीर दुर्गादास की आत्मविजय!

इस शराब राक्षसी ने क्या-क्या अनर्थ किये हैं और इसमें कितने दुर्गुण भरे पड़े हैं, यह बात आप उमरदान की कविता में सुनिये :—

रोग को भवन जो कुजोग तोष मन जानो,
दया को दमन है गवन गरवाई को।
विद्या को विनाशकारी ततछन त्रासकारी,
हिम्मत को हासकारी भैरू भरवाई को।
उमर विचार सीख पाप रिखि आपन को,
विषय विष व्यापन को पौन पुरवाई को।
भगतनि को भाई औ कसाई निज कामिनी को,
शत्रु सुखदाई सुरा हेतु हरवाई को॥

पीथल[1] को खेत पार्यो अहमद[2] को मान मार्यो,
बुद्धसिंह[3] को बिगार्यो नीके निरधारो मैं।
खून बिन जेत[4] खोयो डूंगरसिंह[5] को डुबोयो,
जोर[6] को मरन जोयो हिये माँझ हारो मैं॥
तखत[7] को कीनो तंग सज्जन[8] को मृत्यु संग,
कोटापति[9] को अपंग उमर उचारो मैं।
तोषपोष ओस मारू काहे अफ़सोस कोस,
हाय दारू तेरे दोस कहाँ लौ बखानूं मैं॥

---

१ पृथ्वीराज चौहान। २ अहमदाबाद का सुल्तान मुहम्मद बेगड़ा। ३ बूंदी-नरेश। ४ जोधपुर का उमराव जेतसिंह। ५ यह भी जोधपुर का उमराव है। ६ जोरावरसिंह—जोधपुर का उमराव। ७ जोधपुर-नरेश। ८ उदयपुर के महाराणा। ९ कोटा-नरेश भगवन्तसिंह।

सुरा-पिशाचिनी ने अनेक राजों-महाराजों और सरदारों के कलेजे चूस लिये हैं। इस पिशाचिनी की बदौलत कई-एक अकाल में ही मृत्यु के मुंह में चले गये हैं। हे क्षत्रिय-पुत्रो! जिस राक्षसी ने तुम्हारे वीरों का शिकार किया, क्या उसका तुम आदर करोगे? इस राक्षसी को ठोकर मारो और दुनिया से इसका नामनिशान मिटा डालो।

आज अमेरिका वाले कानून बनाकर इसे रोक रहे हैं। अगर इसके सेवन से किसी प्रकार का लाभ होता तो वे लोग इसे रोकने के लिए कानून का आश्रय क्यों लेते? वे लोग जिस वस्तु को हानिकारक समझते हैं उसे रोकने का और जिसे अच्छा समझते हैं उसे ग्रहण करने का उद्योग करते हैं। उनका यह गुण हमें सीखना चाहिए।

मित्रो! जिस प्रकार शराब हानिकारक है, उसी प्रकार मांस भी हानिकारक है। यह दोनों वस्तुएँ ब्रह्मचर्य के पालन में बाधक हैं। मनुस्मृति में मनुजी ने आदेश दिया है कि किसी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए और न मांसभक्षण ही करना चाहिए।

मांस खाने से बुद्धि ठीक नहीं रहती। यूरोप में इसकी परीक्षा की गई थी। पाँच हजार विद्यार्थी शाकाहार पर और पाँच हजार मांसाहार पर रक्खे गये थे। छः महीने बाद इस प्रयोग का परिणाम प्रकट किया गया तो मालूम हुआ कि शाकाहारी विद्यार्थी बुद्धिमान्, तेजस्वी और नीरोग रहे और मांसाहारी इससे विपरीत सिद्ध हुए।

मनुष्य निसर्गतः मांसाहारी प्राणी नहीं है। मांसाहारी प्राणियों के नाखून पैने और दाँत नुकीले होते हैं और शाकाहारियों के चपटे। मांसाहारी प्राणी जीभ से चपचप करते हुए पानी पीते हैं और शाकाहारी होठों से। ऐसी अनेक भिन्नताएँ हैं, जिनसे मालूम होता है कि मनुष्य मांसाहारी प्राणियों की कोटि में कदापि नहीं रक्खा जा

सकता। अतएव मांस भक्षण करना मनुष्य के लिए प्रकृति-विरुद्ध है। लेकिन मनुष्य अपने विवेक को तिलांजलि देकर सर्वभक्षी बन गया है। खान-पान के विषय में मनुष्य, पशुओं से भी गया-बीता है। पशु अपनी प्रकृति के अनुसार आहार लेता है पर मनुष्य मांस आदि सभी कुछ खा जाता है! इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मनुष्य प्रकृति-विरुद्ध व्यवहार करने के कारण ही पशुओं की अपेक्षा बहुत अधिक परिमाण में बीमारियों का शिकार बनता है। ब्रह्मचर्य-पालन के लिए प्रकृति के अनुकूल आहार-विहार की अत्यन्त आवश्यकता है। जो प्रकृति के अनुसार चलेगा—वही सुखी होगा—वही कल्याण का पात्र होगा।*

भीनासर,
७—८—२७.

---

*बीकानेर के नोबिल स्कूल (राजकुमार विद्यालय) के छात्रों के समक्ष दिया गया भाषण। (सम्पादक)

रक्षा-बन्धन

प्रार्थना

विमल जिनेश्वर सेविए, थारी बुद्धि निर्मल हो जाय रे।
जीवा विषय-विकार विसारने, तू मोहनी कर्म खपाय रे॥
जीवा विमल जिनेश्वर सेविए॥

विमलनाथ भगवान की यह प्रार्थना है। इस प्रार्थना में संसारी जीव अपने पाप-कर्मों द्वारा कहाँ २ भटकता और कैसे-कैसे कष्ट पाता है, इसका वर्णन भी आगया है। इसी वर्णन में नरक का भी उल्लेख किया गया है।

जो मनुष्य हिंसा आदि क्रूर कर्म करते हैं, उन्हें नरक की महा यातनायें भोगनी पड़ती हैं। नरक में कैसे-कैसे दुःख दिये जाते हैं, पापी प्राणियों को किस-किस प्रकार के घोरतर कष्ट भोगने पड़ते हैं, इसका वर्णन सुनने मात्र से ही सहृदय मनुष्यों को कँपकँपी छूटने लगती है—रोमाञ्च हो आता है।

पापी प्राणी पाप से भयभीत हों और समस्त जीवों को सुख की प्राप्ति हो, इस आशय से ज्ञानियों ने नरक की स्थिति का वर्णन किया है। बुद्धिमान् पुरुष नरक का स्वरूप समझ कर उससे बचने का उपाय करे।

नरक का वर्णन करते हुए ज्ञानियों ने नारक जीवों के कष्टों का विस्तार से वर्णन किया है। यहाँ समग्र वर्णन करने का अवसर नहीं है। वहाँ पापी प्राणियों के ऊपर विकराल कुत्ते छोड़कर उनका शरीर नुचवाया जाता है। निर्दयता पूर्वक शस्त्रों का प्रहार किया जाता है। गिद्ध आदि पक्षियों से आँखें निकलवाई जाती हैं।

इसके अतिरिक्त नारक जीव आपस में ही बुरी तरह लड़ते-झगड़ते हैं और एक दूसरे को घोर से घोर कष्ट पहुँचाता है। कष्टों की यह परम्परा सदा जारी रहती है।

इन ऊपरी कष्टों के अतिरिक्त नरक की भूमि भी महान् कष्ट-कारक है। वहाँ की भूमि का स्पर्श करते ही इतना दुःख होता है मानो एक हजार बिच्छुओं ने काट खाया हो। वहाँ की सर्दी-गर्मी असह्य है। भूख-प्यास का कष्ट वर्णनातीत है।

पापी जीव इन सब यातनाओं से महा दुःखी होकर करुण आर्त्तनाद करते हैं पर उनकी कोई नहीं सुनता। जब वे प्यास के मारे व्याकुल हो जाते हैं तब उन्हें पिघला हुआ गरमागरम सीसा पिलाया जाता है। निरन्तर कष्ट भोगते-भोगते जीव जब क्षण भर के लिए विश्रान्ति लेने की प्रार्थना करता है तब नरक के देवता कहते हैं—'अरे पापी! तुझे लाज नहीं आती विश्राम माँगते! जरा अपने पुराने पापों को तो स्मरण कर। उस समय विश्राम नहीं किया—दौड़-दौड़ कर उत्साह के साथ पापाचरण किया, अब विश्रान्ति चाहिए?' इस प्रकार कहकर देवता फिर प्रहार करना आरंभ कर देते हैं।

आह! नरक का यह कैसा भयावना दृश्य है! फिर भी मनुष्य अपनी मोह-रूपी निद्रा को नहीं त्यागते! वे लोग जिन बुरे कामों को

हँसते-हँसते, खेल-कूद में कर डालते हैं, जिन कार्यों को मजाक समझ कर किया जाता है वही कार्य जब भयंकर रूप धारण करके शैतान के रूप में सामने आता है, तो मनुष्य कातर बन जाता है। उस समय उसकी स्थिति अत्यन्त दयनीय हो जाती है। उस समय अपने कामों का पश्चात्ताप करने पर भी फल भोगे बिना छुटकारा नहीं मिलता।

मित्रो ! यह हमारे लिए कितने सौभाग्य की बात है कि ज्ञानियों के अनुभव द्वारा लिखे शास्त्र हमें पहले से सावधान रहने के लिए चेतावनी दे रहे हैं। जिनके कान हैं वे ज्ञानियों की चेतावनी सुनें। अगर नहीं सुनेंगे तो फिर पश्चात्ताप ही पल्ले पड़ेगा !

आदमी सौ बार कुपथ्य का सेवन कर ले और उसका बुरा नतीजा उसे मिल जाय। बाद में वैद्य या प्रकृति कुपथ्य सेवन न करने के लिए उसे सावधान कर दे, फिर भी वह न माने तो दोष किसका गिना जायगा ? उस न मानने वाले मनुष्य का ही। इसी प्रकार हमारे दुःखों के कारणों को शास्त्र स्पष्ट-रूप से बतला रहा है। अगर हम उन कारणों से नहीं बचे तो यह हमारा ही दोष होगा। जो इन कारणों को समझ कर बचने का प्रयत्न करेगा, वह बच सकेगा और उसकी आत्मा की रक्षा हुए बिना न रहेगी।

मित्रो ! आज रक्षाबन्धन का त्यौहार है। आप सब लोगों ने रक्षा—राखी—बँधवाई होगी, पर आपको यह भी पता है कि यह रक्षा-बन्धन का त्यौहार कब से और किस आशय से चला है ? रक्षाबंधन के इस त्यौहार को धर्म-ग्रन्थों ने जुदे-जुदे कारणों से प्रचलित हुआ बतलाया है। कारण कोई कुछ भी क्यों न बतावे, पर यह निश्चित है कि यह त्यौहार भारत-भर में, इस छोर से उस छोर तक मनाया जाता है। एक छोटे से गाँव में जिस उल्लास के साथ मनाया जाता है उसी उल्लास के साथ बड़े-बड़े शहरों में भी मनाया जाता है। इससे

यह निष्कर्ष निकलता है कि रक्षाबन्धन के दिन कोई ऐसी घटना घटी होगी जिसका प्रभाव समग्र भारतवर्ष में व्यापक रूप से पड़ा होगा। उसी घटना के स्मारक रूप में इस त्यौहार की प्रतिष्ठा हुई है। यह त्यौहार अकेले ब्राह्मण, अकेले क्षत्रिय, अकेले वैश्य या अकेले शूद्र ही नहीं मनाते वरन् चारों वर्णों के लोग समान भाव से मनाते हैं। वास्तव में आर्य-जनता ने इस त्यौहार को प्रचलित कर एक बड़ा भारी काम किया है।

भिन्न-भिन्न धर्मों के साहित्य में रक्षाबन्धन के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न घटनाओं का उल्लेख मिलता है। इन विभिन्न घटनाओं में कौन सी अधिक महत्वपूर्ण है और कौन नहीं, इस चर्चा की आवश्यकता नहीं है। यहाँ तो यही बताना उपयोगी होगा कि इन घटनाओं से क्या शिक्षा ग्रहण की जा सकती है ?

रक्षाबन्धन त्यौहार के विषय में हिन्दू शास्त्रों में जो कथा लिखी हुई है, उसका संक्षेप इस प्रकार है :—

राजा बलि दैत्यों का राजा था। उसने दान, यज्ञ आदि क्रियाओं से अपने तेज की इतनी वृद्धि की कि देवराज इन्द्र भयभीत हो गया। उसने सोचा—'अपने तेज के प्रभाव से बलि इन्द्रासन पर बैठ जायगा और मुझे इन्द्र पद से भ्रष्ट कर देगा।' इन्द्र ने अपने बचाव का उपाय खोजा। जब उसे कोई कारगर उपाय नजर न आया तो वह विष्णु भगवान की शरण गया। विष्णु भगवान् से उसने प्रार्थना की—'प्रभो ! रक्षा कीजिये। दैत्य हमें दुःख दे रहे हैं। वे हमारा राज्य छीनना चाहते हैं।' विष्णु भगवान् ने इन्द्र की प्रार्थना स्वीकार की। उन्होंने वामन रूप धारण किया और वे बलि के द्वार पर जा पहुँचे। राजा बलि अति दानी था मगर साथ ही अभिमानी भी था। विष्णु ने दान की याचना की। बलि ने कहा— कहो, क्या माँगते हो ?

वामन—विष्णु बोले—रहने के लिए सिर्फ साढ़े तीन पैर ज़मीन।

बलि ने उनके ५२ अंगुल के छोटे स्वरूप को देख कर हँसते हुए कहा—इतना ही क्या माँगा ? कुछ तो और माँगते।

वामन—इतना दे दोगे तो बहुत है।

राजा बलि ने स्वीकृति दे दी। विष्णु ने अपने वामन रूप की जगह विशाल रूप धारण किया। उन्होंने अपनी तीन लम्बी डगों में स्वर्ग, नरक और पृथ्वी—तीनों लोक नाप लिए। इसके बाद बलि से कहा—तीन पैर तो हो गये, अब आधे पैर-भर जमीन और दे !

बेचारा बलि किंकर्त्तव्यमूढ़ हो रहा। वह और ज़मीन कहाँ से लाता। परिणाम यह हुआ कि वह अधिक ज़मीन न दे सका। तब विष्णु ने उसके मस्तक पर पैर रखकर उसे पाताल में भेज दिया।

इस प्रकार दैत्यों द्वारा होने वाले उपद्रवों को मिटा कर विष्णु ने भारत-भूमि को सुरक्षित बनाया।

जैन शास्त्रों में इस त्यौहार की कथा इस प्रकार है :—

विष्णुकुमार नाम के एक जैन मुनि बड़े तेजस्वी और महापुरुष थे। इनके समय में चक्रवर्त्ती राजा का राज्य था। उसके प्रधान का नाम नमूची था। राजा ने वचन-बद्ध होकर एक बार सात दिन के लिए राज्य के समस्त अधिकार नमूची को दे दिये। नमूची कट्टर नास्तिक और प्रबल द्वेषी था। उसे साधु शब्द से भी चिढ़ होती थी। वह अपने राज्य में से समस्त साधुओं को निकालने लगा। साधु बड़े संकट में पड़े। तब विष्णुकुमार मुनि नमूची के पास गये और बोले-भाई, अन्य साधुओं को अपने राज्य में रहने दे या न रहने दे; परन्तु मैं तो राजा का भाई हूँ। कम से कम मुझे तो साढ़े तीन पैर ज़मीन रहने के लिए दे दे।

नमूची ने कहा—मैं साधु मात्र से घृणा करता हूँ। अपने राज्य में एक भी साधु को रहने देना नहीं चाहता। पर तुम राजा के भाई हो अतएव तुम्हें साढ़े तीन पैर जमीन देता हूँ।

नमूची के वचन देने पर विष्णुकुमार मुनि ने अपनी विशिष्ट विक्रिया शक्ति से तीन पैरों में ही तीनों लोक नाप लिये। बाकी जमीन न बचने से अन्त में नमूची के प्राणों का अन्त हुआ और साधुओं के कष्ट निवारण से सम्पूर्ण भारत में खुशी मनाई गई।

आपने हिन्दू शास्त्रों और जैन शास्त्रों की कथाएँ सुनीं। दोनों कथाओं में कितनी समानता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। विष्णु ने दैत्य राजा का विनाश कर इन्द्र की रक्षा की और जैन कथा के अनुसार विष्णु कुमार ने नमूची को दण्ड देकर साधुओं की रक्षा की। परन्तु मैं इन दोनों कथाओं से प्रतिध्वनित होने वाला रूपक आध्यात्मिक दृष्टि से घटाता हूँ।

इन्द्र का अर्थ है—आत्मा। इन्दतीति-इन्द्रः—आत्मा। इस प्रकार अनेक स्थलों पर आत्मा के अर्थ में इन्द्र शब्द का प्रयोग किया गया है। इस इन्द्र (आत्मा) को अहंकार रूपी दैत्य हराता है। तब इन्द्र घबराकर आत्मबल रूपी विष्णुसे प्रार्थना करता है—त्राहि माम् त्राहि माम्—मेरी रक्षा करो-मुझे बचाओ। मेरी नैया पार लगाने वाले तुम्हीं हो। आत्मबल अपनी विशेष शक्ति रूप पैर फैला कर स्वर्ग, नरक और पृथ्वी को नाप लेता है। जब आधे की आवश्यकता और रहती है तब सिद्ध स्थान प्राप्त कर, आनन्द कर देता है।

इस रूपक का विशेष खुलासा ॐकार के साथ होता है। इसकी विशेष व्याख्या करने का समय नहीं है। ॐकार में साढ़े तीन मात्राएँ हैं। तीन मात्रा में स्वर्ग, नरक एवं पृथ्वी का समावेश हो जाता है। शेष आधी मात्रा में सिद्धशिला पर पहुंचने को मिलता है।

रक्षाबन्धन का व्यावहारिक अर्थ क्या है, यह बतला देना आवश्यक है। यद्यपि सभी लोग लम्बे लम्बे हाथ करके राखी बँधवा लेते हैं, पर इसका वास्तविक रहस्य समझने वाले बहुत कम मिलेंगे।

राखी कई प्रकार की होती है। सोने की, चाँदी की, रेशम की और सादी रुई की भी राखी बनती है। राखी प्रायः बहिन भाई को बाँधती है और स्त्री पुरुष को बाँधती है। उसके उपलक्ष्य में भाई बहिन को और पुरुष स्त्री को सम्मान की वस्तु भेंट करता है। यह इस त्यौहार का प्रचलित रूप है। मगर रक्षाबन्धन के वास्तविक व्यावहारिक अर्थ को जानने के लिए प्राचीन काल के वृत्तान्त देखने की आवश्यकता है। प्राचीन समय में रक्षा-बन्धन सचमुच ही रक्षा का बन्धन था। जो पुरुष अपने हाथ पर रक्षा बँधवा लेता था वह रक्षा के बन्धन में बँध जाता था। राखी बाँधने वाले की रक्षा का भार उस पर आ पड़ता था। उस समय राखी इतनी पवित्र वस्तु मानी जाती थी कि उसे बँधवाने वाला अपने सर्वस्व को यहाँ तक कि प्राणों को भी निछावर करके राखी बाँधने वाले की रक्षा करना अपना परम कर्त्तव्य समझता था।

राखी बाँधते समय यह श्लोक बोल कर बँधवाने वाले का ध्यान रक्षा की ओर आकर्षित किया जाता था।

> येन बद्धो बली राजा, दानवेन्द्रो महाबलः।
> तेन त्वां प्रतिबध्नामि, रक्षे मा चल मा चल॥

रक्षा का डोरा साधारण डोरा नहीं है। यह ऐसा बन्धन है कि उसमें बँध जाने के पश्चात् फिर कर्त्तव्य से विमुख होकर छुटकारा नहीं मिल सकता। रक्षा के बन्धन से सिर्फ हाथ ही नहीं बँधता मगर वह हृदय का बन्धन है, वह आत्मा का बन्धन है, वह प्राणों का

बन्धन है, वह कर्त्तव्य का बन्धन है, वह धर्म का बन्धन है ! राखी के उस साधारण से प्रतीत होने वाले बन्धन में कर्त्तव्य की कठोरता बँधी है, सर्वस्व का उत्सर्ग बँधा है। राखी बँधवाने वाले को प्राण तक अर्पण करने पड़ते हैं।

नागौर (मारवाड़) के राजा के राज्य पर एकबार बादशाह ने चढ़ाई की। उनकी पुत्रीने अपने पिता से आज्ञा लेकर एक क्षत्रिय को भाई बनाने के लिए राखी भेजी। यद्यपि उस क्षत्रिय का नागौर के राजा से मनमुटाव था, दोनों में परस्पर शत्रुता थी; फिर भी वह राखी का तिरस्कार नहीं कर सका। राखी का तिरस्कार करना अपनी वीरता का तिरस्कार करना है, अपने कर्त्तव्य की अवहेलना करना है पवित्र मर्यादा का अतिक्रमण करना है और कायरता का प्रकाश करना है। यह सोचकर क्षत्रिय ने राखी स्वीकार कर ली। बादशाह ने जब नागौर पर चढ़ाई की तब उस वीर क्षत्रिय ने अपनी बहादुर सेना के साथ बादशाह की सेना पर धावा बोल दिया।

बादशाह की फौज पराजित हुई। नागौर के राजा ने उस क्षत्रिय का उपकार माना। दोनों का विरोध शान्त हुआ। नागौर-पति ने अपनी कन्या का विवाह उसके साथ कर देना चाहा। जब कन्या के पास यह संवाद पहुँचा तो उसने कहा—यह मेरे भाई हैं। मैंने राखी भेज कर उन्हें अपना भाई बनाया है। भाई के साथ बहिन का विवाह-संबंध कैसे हो सकता है ?

रक्षा-बन्धन के साथ उत्तरदायित्व का बन्धन किस प्रकार आता है, यह समझने के लिए यह एक घटना आपके सामने उपस्थित की गई है। भारतीय इतिहास में इस प्रकार की अनेक घटनाएँ घटी हैं। तात्पर्य यह है कि पहले जमाने की राखी रक्षा करने के लिए होती थी।

आज महाजन अपनी बहियों को, चौपड़ियों को, दावात को, कलम को, तराजू को, बाँटों को—व्यापार के सभी उपकरणों को राखी बाँधते-बँधाते हैं, पर अनेक भाई रक्षा को बाँध कर उनकी भक्षा बना डालते हैं। उन वस्तुओं पर रक्षा बाँधने का अभिप्राय तो यह होना चाहिए कि बहियों में झूठा जमा-खर्च न लिखा जाय, कलम के द्वारा झूठी इबारत न लिखी जाय, तराजू से कम-ज्यादा न तोला जाय, बाँट खोटे न हों, आदि। पर आज यह सब कुछ हो रहा है। बहियों में खोटा जमा-खर्च लिख कर, जाली दस्तावेज बना कर, झूठी गवाही दिला कर, अन्याय से-धोखे से-दस्तखत करा कर और तराजू से कम-ज्यादा तोल कर, तथा इसी प्रकार की अन्य कार्रवाई करके प्रामाणिकता का अन्त कर रहे हैं।

जैसे बहिन भाई और स्त्री पुरुष, आपस में रक्षा का सम्बन्ध जोड़ते हैं, उसी प्रकार राजा और प्रजा में भी रक्षा सम्बन्ध जोड़ा जाता था।

राजा और प्रजा के इस मधुर सम्बन्ध के समय राजा प्रत्येक सम्भव उपाय से प्रजा की सुख-शान्ति के लिये, प्रजा के अभ्युदय के लिए चेष्टा करता था। वह प्रजा के सुख को ही राज्य की सफलता की कसौटी समझता था। उसके समस्त कार्यों का मुख्य और एकमात्र ध्येय यही होता था कि प्रजा किस प्रकार अधिक से अधिक सुखी, समृद्ध और सम्पन्न हो। प्रजा की रक्षा करना राजा का प्रधान कर्त्तव्य था। राजा जब इस प्रकार से बर्त्ताव करता था, प्रजा का अपने को सेवक समझता था, तब प्रजा भी सब प्रकार से राजा की सेवा के लिए तैयार रहती थी। आज यह सब बातें कहने-सुनने के लिए रह गई हैं। आज राजा स्वार्थान्ध होकर प्रजा को चूसना चाहता है, इसलिए प्रजा राजा का अन्त करने का उद्योग कर रही है। दोनों एक दूसरे के विरोधी बन गये हैं।

आज भी प्रत्येक हिन्दू राजा के राज-भण्डार में राखी बाँधी जाती है। इसी प्रकार शस्त्रों में, रथों में, घोड़े को, हाथी को और इसी प्रकार से अन्य वस्तुओं को राखी बाँधने की परम्परा चल रही है। मगर आज इसका आशय क्या समझा जाता है, भगवान् ही जाने। पहले राज-भण्डार में राखी बाँधने का आशय यह था कि भंडार में अन्याय का धन न आने पावे। गरीब प्रजा की गाढ़ी कमाई के पैसों से राज-कोष न भरा जाय। शस्त्रों को राखी बाँधने का आशय था—शस्त्रों द्वारा देश की समुचित प्रकार से रक्षा की जाय। रथ-घोड़ों आदि को राखी बाँधने का प्रयोजन था—इन सब में वृथा व्यय न किया जाय—आवश्यकता से अधिक इन वस्तुओं का संग्रह ऐश्वर्य या विलास के उद्देश्य से न किया जाय। प्रजा के धन का किसी भी प्रकार अनावश्यक खर्च न किया जाय।

मित्रो! आज समय पलट गया है। अब बहुत सी बातें उलटी हो गई हैं। अन्दरूनी ठोस काम के बदले दिखावटी और थोथी बातें हो रही हैं। राखी के संबंध में भी यही हुआ है। राखी की भी ऐसी ही दुर्दशा हुई है। वह या तो परम्परा का पालन करने के लिए बाँधी-बँधाई जाती है या लोकदिखावे के लिए! दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि आज राखी का जीवन-तत्त्व निकल गया है और केवल निष्प्राण शरीर रह गया है। राखी अब सूत का धागा मात्र है—उसमें से कर्त्तव्य और धर्म की भावना चली गई है।

एक पवित्र प्रणालिका का सार-तत्त्व चला जाय और वह निर्जीव—जड़ मात्र अवशेष रह जाय तब क्या संताप नहीं होना चाहिए? निस्सन्देह यह संताप की बात है। आपके हृदय में अगर संताप हो तो आप उसमें पुनः जीवन लाने का प्रयत्न करें।

बहुत से ब्राह्मण आज यजमान को सिर्फ पैसे के लिए राखी

बाँधते हैं। प्राचीन काल के ब्राह्मणों की रक्षा पैसों की नहीं, धन-दौलत की नहीं, कल्याण कामना की थी। उस समय न केवल ब्राह्मण ही, वरन् क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी परस्पर राखी बाँधते थे। आज जैसी घृणा पहिले के समय में नहीं थी।

आज बहुत से भाई 'पखाल' बनाने वालों से घृणा करते हैं। मैं पूछना चाहता हूँ, आप लोगों में से कितने ऐसे हैं जिनके पेट में पखाल का पानी नहीं है? आप सभी के पेट में पखाल का पानी मौजूद है। तो आप पखाल का प्रयोग करते हैं, पखाल से प्रेम करते हैं, पर पखाल बनाने वाले से प्रेम नहीं करना चाहते। हाय हाय! यह कैसी विपरीत बुद्धि है! आप जूते पहन कर पैरों को सर्दी-गर्मी और काँटों-कीचड़ से बचाना चाहते हैं, उसके लिए जूतों को चाहते हैं पर जूते बनाने वालों को नहीं चाहते! क्या कहूँ, प्यारे मित्रो! जितना जूतों को चाहते हो, उतना भी जूता बनाने वालों को न चाहो, तो यह मनुष्यता का घोर अपमान है। मानव-जीवन के प्रति यह अक्षम्य अपराध है। इस तथ्य को समझो। उनसे प्रेम करो, उनके साथ सद्व्यवहार करो। उन्हें राखी बाँधो और उनसे राखी बँधवा-कर निर्मल प्रेम की धारा बहा दो।

आज बीकानेर रियासत के प्रधान-मन्त्री आये हैं। मैं उन्हें राखी बाँधना चाहता हूँ। पर मेरी रक्षा भाव रूप है द्रव्य रूप नहीं। द्रव्य-रक्षा मैं रख ही नहीं सकता और न उसके रखने की आवश्यकता है। मेरी भाव-रक्षा धर्म की रक्षा है, कर्त्तव्य की रक्षा है। भाव रक्षा बाँध कर मैं अपने शरीर की रक्षा कराना नहीं चाहता। मैं चाहता हूँ—धर्म की रक्षा हो, कर्त्तव्य की रक्षा हो।

आज भारत-कन्या उच्चाधिकारियों और राजाओं की ओर हाथ पसार कर रक्षा बाँधना चाहती है। आप लोग भारत कन्या की रक्षा

को स्वीकार कीजिए। राज्यसत्ता जिस कौशल के साथ भारत की रक्षा कर सकेगी, उस प्रकार की रक्षा दूसरी शक्ति द्वारा होना कठिन है।

आज भारत लुट रहा है, पिट रहा है, आर्तनाद कर रहा है। राज्य-सत्ता उस ओर तनिक भी ध्यान दे तो उसके समस्त दुःखों का अन्त हो सकता है। किसी शहर में १०-२० घर लुट जायँगे, अथवा १०-५ लाख रुपयों का डाका पड़ जायगा, इस चिन्ता से राज्य अनेक प्रकार की व्यवस्था करता है और अपना उत्तरदायित्व समझ कर रक्षा का भार उठाता है। पर इस देश में एक ऐसा गुप्त चोर घुसा हुआ है जो अज्ञान प्रजा को—मूर्ख जनता को—अपनी प्रबल शक्ति के साथ दिनोंदिन लूट-खसोट कर दीन-दरिद्र बना रहा है। उसने करोड़ों की सम्पत्ति लूट कर समुद्र पार भेज दी है और इस देश को भिखारी बना दिया है। वह गुप्त चोर भयानक राक्षस है। उसका शरीर एक है, सिर बहुत से हैं। वह रावण से अधिक भयंकर है—प्रबल है। उसका अन्त करने के लिए तेजस्वी राम की आवश्यकता है।

इस महारावण के अनेक सिर हैं। उनमें से, मैं अपनी कल्पना के अनुसार वीर्यनाश को मुख्य मानता हूँ। इसने भारतीय प्रजा को निस्तेज, निर्बल बना दिया है। वीर्यनाश का पोषण करने में बाल-विवाह की कुप्रथा ने सब से अधिक सहायता पहुँचाई है। इस संबंध में मैं नोबिल स्कूल के विद्यार्थियों के सामने एक भाषण कर चुका हूँ। अतएव विस्तार से आज नहीं कहूँगा।

मैंने भारत के अनेक प्रान्तों का भ्रमण किया है, पर इस कुढ़ंगे रिवाज का जितना प्रचलन बीकानेर राज्य में देखा, उतना शायद ही कहीं होगा।

विवाह शक्ति प्राप्त करने के लिए किया जाता है। शक्ति के लिए मंगल वाद्य बजवाये जाते हैं। शक्ति के लिए ज्योतिषी से ग्रहादिक का सुयोग पूछा जाता है। शक्ति के लिए सुहागिनों का आशीष लिया जाता है। परन्तु जहाँ अशक्ति के लिए यह सब काम किये जाते हों, वहाँ के लोगों से क्या कहा जाय? जो अशक्ति के स्वागत-सत्कार के लिए यह सब समारोह करता हो उस मूर्ख को किस पदवी से अलंकृत करना चाहिये?

बाल-विवाह करना अशक्ति का स्वागत करना ही है। इससे शक्ति का नाश होता है। अतएव चाहे कोई जैन श्रावक हो, वैष्णव गृहस्थ हो अथवा और कोई हो, सब का कर्त्तव्य है कि अपनी सन्तति के हित के लिए—संतान की रक्षा के लिए इस घातक प्रथा को आज रक्षा-बन्धन के दिन त्याग दें। इसका मूलोच्छेदन करके सन्तान का और सन्तान के द्वारा समाज एवं राष्ट्र का मंगलसाधन करें।

आप मंगल के लिए बाजे बजवाते हैं, मंगल के लिए सुहागिनें आशीष देती हैं, मंगल के लिए ज्योतिर्विद से शुभ-मुहूर्त्त निकलवाते हैं; पर यह स्मरण रखिए कि यह सब मंगल जब अमंगल के लिए किये जाते हैं तब ये किसी काम में नहीं आते। इन सब मंगलों से बाल-विवाह के द्वारा होने वाला अमंगल दूर नहीं हो सकता। छोटी-कच्ची उम्र में बालक-बालिका का विवाह करना अमंगल है। ऐसा विवाह भविष्य में हाहाकार मचानेवाला है। ऐसा विवाह त्राहि-त्राहि की आवाज़ से आकाश को गुञ्जाने वाला है। ऐसा विवाह देश में दुःख का दावानल दहकाने वाला है। इस प्रकार के विवाह से देश की जीवनी शक्ति का ह्रास हो रहा है। यह शारीरिक क्षमता की न्यूनता उत्पन्न कर रहा है। विविध प्रकार की आधिव्याधियों को जन्म दे रहा है। अतएव अब सावधान हो जाओ। अगर संसार की भलाई करने योग्य उदारता आपके दिल में नहीं आई है तो कम से कम

अपनी सन्तान का अनिष्ट मत करो। उसके भविष्य को घोर अन्धकार से आवृत मत बनाओ। जिसे तुमने जीवन दिया है, उसी के जीवन का सत्यानाश मत करो। अपनी सन्तान की रक्षा करो।

यह बालक दुनिया के रक्षक बनने वाले हैं, ऐ भाइयो ! छोटी उम्र में विवाह करके इन्हें संसार की कोल्हू में मत पीलो।

यह बालक गुलाब के फूल से सुकुमार हैं, इन पर दाम्पत्य का पहाड़ मत पटको। बेचारे पिस जाएँगे।

बालक निसर्ग का सुन्दरतम उपहार है। इस उपहार को लापरवाही से मत रौंदो।

मित्रो ! किसी रथ में दो छोटे-छोटे बछड़ों को जोत दिया जाय और उस रथ पर १०-१२ स्थूलकाय आदमी बैठ जाएँ तो जोतने वाले को आप दयावान कहेंगे या निर्दय ?

'निर्दय !'

तब छोटे-छोटे बच्चों को गृहस्थी-रूपी गाड़ी में जोत कर उन पर संसार का बोझ लादने वालों को आप निर्दय न कहेंगे ?

'कहेंगे !'

साथ ही उन लड्डू उड़ाने वालों को—जो इस घोर अत्याचार की अनुमोदना करते हैं—क्या कुछ कम निर्दय कहा जा सकता है ?

'नहीं !'

अगर आप अपने अन्तःकरण से मेरे प्रश्नों का उत्तर दे रहे हैं तो धर्म के कानून से इस अन्याय-प्रथा को बन्द करने का प्रयत्न कीजिए। आपने ऐसा न किया तो यह दीवान साहब (सर मनु भाई

मेहता) बैठे हैं। वे राजकीय कानून बना कर, आपकी चोटी पकड़ कर इस अन्याय को छोड़ने के लिए बाध्य करेंगे।

भारतीय शास्त्र छोटी उम्र में बालकों के विवाह करने का निषेध करता है। बालक की उम्र बीस वर्ष और बालिका की उम्र सोलह वर्ष निर्धारित की गई है। इतने समय तक बालक-बालिका संज्ञा रहती है। अगर आप लोगों को यह बहुत कठिन जान पड़े तो सोलह वर्ष से पहले बालक और तेरह वर्ष से पहले बालिका का विवाह तो कदापि नहीं होना चाहिए। जिस राज्य में योग्य बालक-बालिका का विवाह होता है उसी राज्य के राजा और मन्त्री प्रशंसा के योग्य हैं। जहाँ प्रजा इसके विपरीत आचरण करती हो वहाँ के वीर राजा और प्रजावत्सल मन्त्री का कर्त्तव्य हो जाता है कि वे अपने राज्य की जड़ को खोखला बनाने वाले आचरणों पर तीव्र प्रतिबन्ध लगा दें।

जिस राज्य की प्रजा बलवान् होगी वहाँ चोरी आदि का भय नहीं रहेगा। राज-कर्मचारियों को चोरों और लुटेरों के पीछे अपनी शक्ति व्यय नहीं करनी पड़ेगी और वह शक्ति प्रजा के लिए उपयोगी अन्य कार्यों में लगाई जा सकेगी। इससे विपरीत जिस राज्य में प्रजा निर्बल होती है, उस राज्य को उसकी रक्षा करने के लिए पर्याप्त शक्ति व्यय करनी पड़ती है, काफ़ी परिश्रम करना पड़ता है, फिर भी यथोचित शान्ति कायम नहीं रह पाती। जहाँ सौ सिख या गोरखे पहरेदार खड़े हों वहाँ चोर की हिम्मत चोरी करने की हो सकती है? नहीं। इसी प्रकार जिस राज्य की प्रजा बलवान् होगी वहाँ चोरों और डाकुओं की दाल न गल सकेगी।

बलवान प्रजा में से बलवान् साधु निकलने की उम्मीद की जाती है। निर्बल और हतवीर्य प्रजा में से ऐसे ही साधु निकलेंगे, जो दुनिया का कुछ भी भला करने में समर्थ न हो सकेंगे।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के धार्मिक विचारों से मेरी मान्यता भिन्न है। किन्तु अन्य अनेक बातों में मैं उन्हें प्रेम की दृष्टि से देखता हूँ। उन्हें विष दिया गया था और विष के प्रभाव से उनका शरीर फूट-फूट कर चूने लगा था। फिर भी उनके मुख पर तेज झलक रहा था। उनके पास एक नास्तिक रहता था। वह इस विषम-स्थिति में भी उनका आत्मबल देखकर चकित रह गया था। इस दृश्य ने उसे नास्तिक से आस्तिक बना दिया।

डाक्टरों का कथन था कि यदि ऐसा विष किसी साधारण मनुष्य को दिया जाता तो घंटे-दो घंटे में ही उसके प्राण-पखेरू उड़ जाते। मगर उन्होंने ब्रह्मचर्य के प्रताप से ३-४ मास निकाल दिये। ज़हर के कारण सारा शरीर फूट निकला है पर मुंह पर विषाद की रेखा तक नज़र नहीं आती। दिन पर दिन अपने नये तात्त्विक विचार लोगों को सुनाते हैं और स्वयं आनन्द में मग्न रहते हैं।

दयानन्द सरस्वती ने ब्रह्मचर्य के प्रताप से भारतवर्ष में एक सामाजिक क्रान्ति पैदा कर दी। उन्होंने सामाजिक विषयों में विचारों की रूढ़ता एवं गुलामी का अन्त किया और राष्ट्रीयता का पाठ पढ़ाया।

अहा! ब्रह्मचर्य में कैसी अद्भुत शक्ति है! कितना चमत्कार है। किन्तु इस अद्भुत शक्ति को न पहचान कर लोग अबोध बालकों का विवाह कर रहे हैं! यह कितने परिताप की बात है!

आज के राजा-महाराजा अगर उनका ऑनरेरी काम करने वाले साधु सन्तों का सत्संग करें तो उन्हें अपने कर्त्तव्य का सरलता से बोध हो सकता है और जिस कार्य के लिए उन्हें बड़ी-बड़ी तनख्वाहों के पदाधिकारी नियत करने पड़ते हैं, फिर भी कार्य यथावत् नहीं होता, वह अनायास ही सम्पन्न हो सकता है।

बाल-विवाह की भयानक प्रथा का अगर जनता स्वयमेव त्याग नहीं करती तब उसका एक ही उपाय रह जाता है और वह यह कि राज्य अपनी सत्ता से कानून का निर्माण करे और दुराग्रहशील व्यक्तियों के दुराग्रह को छुड़ावे। मनुष्य की आयु का ह्रास करने में बाल-विवाह भी एक प्रधान कारण है। अमेरिका, जर्मनी और जापान आदि देशों में १५० वर्ष की आयु के हट्टे-कट्टे तन्दुरुस्त पुरुष मिल सकते हैं; वहाँ भारतवर्ष की औसत आयु पच्चीस वर्ष की भी नहीं है। भारतवर्ष का यह कैसा अभाग्य है!

देश की इस दुर्दशा में भी भारत के साठ-साठ वर्ष के बूढ़े विवाह करने के लिए तैयार हो जाते हैं। बूढ़ों की इस वासना ने देश को उजाड़ डाला है। आज विधवाओं की संख्या कितनी ज्यादा बढ़ गई और बढ़ती जाती है, यह किसे नहीं मालूम? आप थोकड़ों पर थोकड़े गिन लेते हो पर कभी इन विधवाओं की भी गिनती आपने की है? कभी आपने यह चिन्ता की है कि इन विधवा बहिनों का निर्वाह किस प्रकार होता है?

इस प्रकार एक ओर बाल-विवाह मानव-जीवन को कुतर रहा है और दूसरी ओर वृद्ध-विवाह विधवाओं की संख्या बढ़ाने का बीड़ा उठाये है। मित्रो! अगर रक्षाबन्धन के त्यौहार से लाभ उठाना है तो इन घातक रिवाजों को दूर करके समाज और देश की रक्षा करो।

भारत में शिक्षा की भी बहुत कमी है। जो शिक्षा दी भी जाती है वह इतनी निकम्मी है कि शिक्षा प्राप्त करने वाले युवक किसी काम के नहीं रहते। वे गुलामी के लिए तैयार किये जाते हैं और गुलामी में ही अपने दिन व्यतीत करते हैं। उनका अपनापन अपने तक या अधिक से अधिक अपने संकीर्ण परिवार तक सीमित रहता है। उससे आगे की बात उनके मस्तिष्क में प्रायः कभी आती ही नहीं है।

वे अपने को समाज का एक अंग मान कर समाज के श्रेय में अपना श्रेय एवं समाज के अमंगल में अपना अमंगल नहीं मानते। समाज में व्यक्ति का वही स्थान है जो विशाल जलाशय में एक जल-कण का होता है। जलकण अपने आपको जलाशय से भिन्न माने तो क्या वह ठीक होगा ? इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति जब सामाजिक भावना से हीन हो जाता है, अपनी सत्ता स्वतन्त्र और निरपेक्ष समझने लगता है, तब समाज का उत्थान रुक जाता है, राष्ट्र की प्रगति अवरुद्ध हो जाती है। ऐसे लोगों से विश्व-सेवा की आशा ही क्या की जा सकती है ?

पहले यह नियम था कि पहले शिक्षा, पीछे स्त्री मिलती थी। प्रत्येक बालक को ब्रह्मचर्यमय जीवन व्यतीत करते हुए विद्याभ्यास करना पड़ता था। अब आजकल प्रायः पहले स्त्री और पीछे शिक्षा मिलती है। जहाँ यह हालत है वहाँ सुदृढ़ शारीरिक सम्पत्ति से सम्पन्न प्रकाण्ड विद्वान् कहाँ से उत्पन्न होंगे ?

जैसा कि अभी कहा जा चुका है, आजकल जो शिक्षा मिलती है उसका जीवन-सिद्धि के साथ कोई सरोकार नहीं है, वह बेकार-सी है, फिर भी वह बड़ी बोझीली है। विद्यार्थियों पर पुस्तकों का इतना अधिक बोझा लादा जाता है कि बेचारे रोगी बन जाते हैं। चेहरे पर तेज नहीं, ओज नहीं, रूखा और पीला चेहरा, धँसी हुई आँखें, कृश शरीर, गालों में गड्ढे, यही सब विद्यार्थी की सम्पत्ति होती है। युवावस्था में जब यह दशा होती है, जवानी में बुढ़ापा आ जाता है तब बुढ़ापे में क्या होगा, यह विचारणीय प्रश्न है। अकसर अनेक युवकों का बुढ़ापा ही नहीं आने पाता और वे विधवा की संख्या में एक की वृद्धि करके चल बसते हैं।

विधवा बहिनों की दशा पर जब मैं विचार करता हूँ तब मेरी

आँखों में आँसू आ जाते हैं। कई भाइयों के हृदय इतने कठोर बने हुए हैं कि इन बहिनों के दुःख को देख करके भी वे नहीं पसीजते। याद रखना, इन विधवाओं के हृदय से निकली हुई आहें वृथा नहीं जाएँगी। समय आने पर वे ऐसा भयंकर रूप धारण करेंगी कि भारत को भस्मी-भूत कर डालेंगी। आप पशुओं पर दया करते हैं, छोटे-छोटे जन्तुओं पर करुणा की वर्षा करते हैं पर इन विधवा बाइयों की तरफ ध्यान ही नहीं देते! क्या इनका जीवन सूक्ष्म कीट-पतंगों और पशु-पक्षियों से भी गया-बीता है?

दीवान साहब! विधवाओं की दशा सुधारने और उनकी रक्षा करने का भार आपकी गोद में सौंपा जा रहा है। आप इसे उठाइये। हमारे उपदेश को लोग इतना न मानेंगे जितना आपका आदेश मानेंगे। 'भय बिन होत न प्रीत' उक्ति प्रसिद्ध है।

भय से मेरा यह आशय नहीं है कि जनता को डराया-धमकाया जाय अथवा मार-पीट का अवसर उपस्थित हो। मेरा आशय यह है कि आप कुछ जोर देकर कहेंगे तो काम बन जायगा।

मित्रो! अवसर आया है तो एक बात और कह देना चाहता हूँ। आप लोगों में एक और हानिकारक रिवाज देखता हूँ—बच्चों को जेवर पहनाना। बच्चों को आभूषण पहनाने में आपका उद्देश्य क्या है? इसके दो ही उद्देश्य हो सकते हैं—या तो बालक को सुन्दर दिखाना अथवा अपनी श्रीमन्ताई प्रकट करना। मगर यह दोनों उद्देश्य भ्रम-पूर्ण हैं। बालक स्वभाव से ही सुन्दर होता है। वह निसर्ग का सुन्दरतर उपहार है। उसके नैसर्गिक सौन्दर्य को आभूषण दबा देते हैं—विकृत कर देते हैं। जिन्हें सच्चे सौन्दर्य की परख है वे ऐसे उपायों का अवलम्बन नहीं करते। विवेकवान व्यक्ति जड़ पदार्थ लाद कर चेतन की शोभा नहीं बढ़ाते। जो लोग आभूषणों में सौंदर्य

निहारते हैं, कहना चाहिए कि उन्हें सौन्दर्य का ज्ञान ही नहीं है। वे सजीव बालक की अपेक्षा निर्जीव आभूषणों को अधिक चाहते हैं। उनकी रुचि जड़ता की ओर आकृष्ट हो रही है।

अगर अपनी श्रीमत्ता प्रकट करने के लिए बालक को आभूषण पहना कर खिलौना बनाना चाहते हो तो स्वार्थ की हद हो गई! अपनी श्रीमन्ताई प्रकट करने के लिए निर्दोष बालक का जीवन क्यों विपत्ति में डालते हो? जिसे अपनी धनाढ्यता का अजीर्ण है—जो अपने धन को नहीं पचा सकता वह किसी अन्य उपाय से उसे बाहर निकाल सकता है। उसके लिए अपनी प्रिय सन्तान के प्राणों को सकट में डालना क्या उचित है?

बच्चों को आभूषण पहनाने से मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अनेक हानियाँ होती हैं। उन सब का कथन करने का समय नहीं है। परन्तु एक प्रत्यक्ष हानि तो आप सभी जानते हैं। गहनों की बदौलत कई बालकों की हत्या होती है। हत्या की घटनाएँ आये दिन घटती रहती हैं। फिर भी आप अपना ढर्रा नहीं छोड़ते, यह कितने आश्चर्य की बात है? आपका विवेक कहाँ है? वह कब जागृत होगा?

> आई बापे जरी सर्पिणी के बोका,
> त्यांचे संगे सुखा ना पावे बाळ।
> चंदनाचा शूळ सोनी यांची बेडी,
> सुखनिधि कोडी प्राण नाशी॥

यह पद भक्त तुकाराम का है। थोड़े से शब्दों में कितना मर्म भर दिया है? कहा है—जिस घर में माता सर्पिणी और पिता बिलाव बन कर रहे वहाँ बच्चा शान्त कैसे रह सकता है? जिस समाज में

स्त्रियाँ सर्पिणी और पुरुष बिलाव होते हैं वहाँ मेरे जैसे की स्थिति कैसे हो सकती है ?

मित्रो ! मैंने आपके सामने भारत के शत्रु एक महारावण के सिर्फ एक सिर का वर्णन किया है । समय अधिक हो गया है और मैं दीवान साहब का और अधिक समय लेना नहीं चाहता, अतएव व्याख्यान अधिक लम्बा नहीं करता ।

विष्णु ने वामन रूप धारण करके बलि का मर्दन किया था । वामन का आशय है छोटा—विनयी । आप भी नम्र बन कर राजा साहब और दीवान साहब से इस महारावण का सिर तोड़ने का वचन लीजिए ।

अन्त में एक बात और कह देना आवश्यक है । प्रत्येक हिन्दू गौ को गोमाता के नाम से पुकारता है और उसे श्रद्धाभाव से देखता है । फिर भी उसकी पालना जैसी चाहिए वैसी नहीं हो रही है । गाय के मानव-समाज पर अपरिमित उपकार हैं । उसके उपकारों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करने के लिए उसे 'गोमाता' संज्ञा दी गई है । इस संज्ञा को सार्थक बनाने के लिए उसके प्रति आज जो उपेक्षा दिखाई दे रही है उसका दूर होना आवश्यक है । अमेरिका में भारत की ही गाय से १२० रतल दूध प्राप्त किया जा रहा है । अमेरिका ने गाय की सेवा करके सचमुच ही उसके 'माता' पद को सार्थक किया है । अमेरिका के विद्वानों ने अनेक बड़े-बड़े निबन्ध लिखकर बतलाया है कि गाय प्रत्येक दृष्टि से रक्षणीय है । पर गाय को माता कह कर पूजने वाले हिन्दुस्तान में गाय की क्या दुर्दशा हो रही है ? उस पर यहाँ खचाखच छुरियाँ चल रही हैं, यह कितनी लज्जा की बात है ! बीकानेर के दीवान साहब चाहें तो बीकानेर की गायों को बाहर भेजे जाने से रोक सकते हैं । ऐसा करना न केवल गोवंश पर ही वरन्

मानव-प्रजा पर भी बड़ा उपकार होगा, जनता की यह सच्ची सेवा होगी।

मित्रो ! रक्षाबन्धन के दिन आपकी रक्षा के कुछ उपायों का दिग्दर्शन कराया गया है। अगर आप इनकी ओर ध्यान देंगे तो आपका कल्याण होगा।

भीनासर }
१३—८—२७. }

धर्म की व्यापकता

प्रार्थना

धरम जिनेश्वर मुझ हियडे बसो, प्यारा प्राण समान।
कबहुँ न विसरूँ हो चितारूँ नहीं, सदा अखंडित ध्यान॥ धरम० ॥

श्रीधर्मनाथ भगवान की यह प्रार्थना है। इस प्रार्थना में प्रार्थना करने वाले ने धर्मनाथ भगवान् के अखंडित ध्यान की कामना प्रकट की है। धर्मनाथ भगवान का ध्यान और आराधन किस प्रकार किया जा सकता है? वास्तव में धर्म की आराधना ही धर्मनाथ की आराधना है। निर्मल हृदय से, निष्काम भाव से परमात्मा के आदेश का अनुसरण करना ही परमात्मा की सर्वश्रेष्ठ आराधना है। परमात्मा के आदेश के प्रतिकूल आचरण करने वाले, परमात्मा के गुणों का रटन ऊपर-ऊपर से करते रहें और हृदय को पापवासना से मलीन बनाये रक्खें तो उससे क्या लाभ हो सकता है?

कई भाई सोचते हैं कि धर्म की आराधना साधु ही कर सकते हैं। गृहस्थ लोग नहीं। यह विचार भ्रमपूर्ण है। धर्म तत्त्व इतना संकुचित नहीं है। धर्म में ऐसी संकीर्णता नहीं है कि थोड़े से लोग ही उसका उपयोग कर सकें और जगत् मात्र उससे वंचित रहे। अगर धर्म में इतनी संकीर्णता होती तो धर्म को फैलाने वाले अवतारों को लोग ईश्वर, परमेश्वर, प्रभु, जगन्नाथ, जगद्बन्धु, जगन्नियन्ता आदि उदार विशेषणों से क्यों स्मरण करते? अतएव इस भ्रान्त धारणा

को निकाल कर फैंक दो। धर्म सिर्फ साधुओं-त्यागियों के लिए नहीं है पर सारे संसार के लिए है, जैसे प्राकृतिक पदार्थों को—हवा, पानी आदि को—उपयोग में लाने का अधिकार सभी प्राणियों को है, उससे कोई वंचित नहीं किया जा सकता, इसी प्रकार धर्मतत्त्व के पालन करने का अधिकार भी सभी को है। गृहस्थ तो मनुष्य ही है, पर शास्त्रकार तो पशुओं को भी धर्मपालन का अधिकार देते हैं। कोई-कोई पशु भी प्रबल पुण्य के परिपाक से श्रावक के कतिपय नियमों की आराधना करके पंचम गुणस्थान श्रेणी को प्राप्त कर सकता है। जहाँ पशुओं को भी धर्म साधना का अधिकार हो वहाँ मानव मात्र का अधिकार तो स्वयं सिद्ध हो जाता है। यह आश्चर्य की बात है कि भगवान् महावीर के समकालीन श्री गौतम बुद्ध ने अपने संघ में गृहस्थों को स्थान नहीं दिया, पर उसका परिणाम कुछ अच्छा नहीं आया। इससे विपरीत जैन संघ में श्रावक और श्राविका को स्थान प्राप्त है। इसका परिणाम यह है कि आज जैनों की संख्या अल्प होने पर भी जैन संघ बौद्ध संघ की अपेक्षा अपने मूल भूत उसूलों से अधिक चिपटा हुआ है। यह ठीक है कि उसमें भी अनेक प्रकार के विकार आ गये हैं फिर भी बौद्ध साधु और श्रमणोपासक से जैन साधु और श्रावक की तुलना करने से दोनों का भेद स्पष्ट प्रतीत हुए बिना नहीं रहेगा। यह कहकर मैं किसी धर्म की निन्दा नहीं करना चाहता, अपितु यह बताना चाहता हूँ कि धर्म तत्त्व उदार है, व्यापक है और उसे साधन करने का गृहस्थों को भी अधिकार है।

सूर्य किसी व्यक्ति-विशेष के घर पर ही प्रकाश नहीं फैलाता, पर जगत् को प्रकाशमय बनाता है। जल किसी खास व्यक्ति की तृषाको शान्त नहीं करता, वरन् प्रत्येक पीने वाले की प्यास बुझाता है। वायु कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के लिए ही नहीं है किन्तु सभी के लिए है। अग्नि सिर्फ राजा के पकवान ही नहीं पकाती पर सभी प्राणी

उससे समान भाव से लाभ उठाते हैं। अगर अग्नि में यह गुण न हो, वह केवल राजा के ही काम में आने वाली हो तो क्या आप उसे अग्नि कहेंगे ?

'नहीं !'

इसी प्रकार धर्म सार्व है—सर्वजन-हितकारी है। सभी उसकी आराधना करके कल्याण-साधन कर सकते हैं। जो धर्म कुछ व्यक्तियों के काम आवे वह अपूर्ण है—संकीर्ण है। प्रकृति की—समस्त वस्तुओं पर समस्त प्राणियों का अधिकार है। प्रत्येक प्राणी को प्राकृतिक पदार्थों के उपयोग करने का स्वतः सिद्ध हक है। अगर किसी को किसी कुदरती वस्तु से कोई हानि पहुँचती है तो वह दोष उस वस्तु का नहीं है। वस्तु तो अपने स्वभाव के अनुसार गुणों को धारण किये हुए है। उसका अनुचित या अयोग्य व्यवहार करने वाले का ही दोष है कि वह उससे हानि उठाता है। सूर्य सभी को प्रकाश देता है, पर संसार में कुछ प्राणी ऐसे हैं जिनके लिए वह भी अन्धकार सा उत्पन्न करने वाला बन जाता है। उलूक और चमगादड़ आदि को सूर्य के प्रकाश में दिखाई नहीं पड़ता। उन्हें रात्रि में ही दीखता है। इन प्राणियों को अगर दिखाई नहीं देता तो क्या यह सूर्य का दोष है ? नहीं। अगर यह दोष है तो उनकी प्रकृति का ही दोष समझा जा सकता है। प्रकृति की वस्तु सब को लाभ पहुँचाती है उसका उपयोग चाहे राजा करे, ब्राह्मण करे, चाण्डाल करे, साधु करे, जंगल में करे, घर में करे; कहीं भी क्यों न किया जाय ! वह सब के लिए समान है। प्रकृति के दरबार में भेदभाव नहीं है—विषमता नहीं है। वैषम्य के बीज तो मनुष्य ने अपने हाथों बोये हैं।

धर्म भी प्राकृतिक है। वस्तु का स्वभाव है। 'वत्थुसहावो धम्मो।' ऐसी स्थिति में धर्म में भेदभाव की गुंजाइश कहाँ है ?

सर्व साधारण के काम में आने वाले धर्म का लक्षण क्या है? यह प्रश्न उपस्थित होता है। दुनिया में धर्म के आगे अनेक विशेषण लग जाने के कारण साधारण जनता चक्कर में पड़ जाती है कि हम किस विशेषण वाले धर्म का अनुसरण करें? कौन-सा विशेषण हमें मुक्ति प्रदान करेगा? किस विशेषण के द्वारा हमारी आत्म-शुद्धि होगी और जीवन का विकास हो सकेगा? कहीं जैन विशेषण है, कोई 'ईसाई' विशेषण से उसे विशिष्ट बनाता है। कोई-कोई 'मुस्लिम' विशेषण लगा कर अपने धर्म को अलग बताता है। इस पर अगर गहराई के साथ विचार किया जाय तो विदित होगा कि भेद वास्तव में विशेषणों में है। जिसके यह सब विशेषण हैं उस धर्म तत्त्व में कहीं भेद नहीं है। धर्म तत्त्व एक है, अखंड है। उस अखंड तत्त्व के खण्ड-खण्ड करके, अनेकान्त में एकान्त की स्थापना करके, देश काल के अनुसार, लोक रुचि की विभिन्नता का आश्रय लेकर उसमें अनेक विशेषण लग गये हैं। अगर इन सब विशेषणों को अलहदा करके तत्त्व का अन्वेषण किया जाय तो सत्य सूर्य के समान चमक उठेगा। जब धर्म सत्य है और सत्य सर्वत्र एक है तो धर्म अनेक किस प्रकार हो सकते हैं? अस्तु.

जैन सिद्धान्त कहता है—धर्म का तत्त्व प्रत्येक श्रद्धावान् को, फिर चाहे वह आर्य हो या अनार्य हो, मिलना चाहिए। धर्म अपूर्ण वस्तु नहीं है, पूर्ण है। इसी कारण वह सब से प्रेम करता है, किसी को धिक्कार नहीं देता।

धर्म की व्याख्या साधारण नहीं है। धर्म में किसी भी प्रकार के पक्ष-पात को, जातिगत भेदभाव को, ऊँच-नीच की कल्पना को, राजा-रंक अथवा गरीब—अमीर की भावना को तनिक भी स्थान नहीं है। धर्म की दृष्टि में यह सब समान हैं।

धर्म के भीतर एक महान् तत्त्व है। उस महान तत्त्व की उपलब्धि सब को नहीं होने पाती—कोई विरला ही उसे प्राप्त करता है। जिसमें धर्म के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धाभाव व और हिमाचल की सी अचलता है वही उस गूढ़तर तत्त्व को पाता है।

जब प्रह्लाद पर अभियोग लगाया गया तब हिरण्यकश्यपु ने पुरोहितों को आज्ञा दी कि कोई ऐसा अनुष्ठान करो जिससे प्रह्लाद का अन्त हो जाय। जिस धर्म का अन्त करने के लिए मैंने जन्म लिया है, प्रह्लाद उसी को फैला रहा है। मेरे ही घर में जन्म लेकर, मेरे शत्रु—धर्म को प्रश्रय दे यह मुझे असह्य है। मैं धर्म को जीवित नहीं रहने दूंगा। अगर प्रह्लाद उसे जीवित रखने की चेष्टा करेगा तो उसे भी जीवित न रहने दूंगा।

हिरण्यकश्यपु ने प्रह्लाद को बुलाकर समझाया—अरे! इस धर्म को तू छोड़ दे। मैं ही प्रभु हूँ, मैं ही ईश्वर हूँ। मेरे विपरीत आचरण करने से यह भूलोक ही तेरे लिए पाताल लोक—नरक बन जायगा। मेरा कहना मान। बाल-हठ मत कर। धर्म तुझे ले डूबेगा।

प्रह्लाद ने निर्भय और निश्चिन्त भाव से कहा-तुम और हो, प्रभु कुछ और है। धर्म के अनुकूल आचरण करना मेरे जीवन का उद्देश्य है। धर्म का अनुसरण करने से ही अगर कोई विरोध समझता है तो मेरा क्या दोष है? मैं आपसे नम्र प्रार्थना करता हूँ कि आप अपना दुराग्रह त्याग दें। धर्म अमर है, अविनाशी है। वह किसी का मारा मर नहीं सकता। वह किसी के नाश किये नष्ट हो नहीं सकता। जो धर्म का नाश करने की इच्छा करता है, वह अपने ही विनाश को आमंत्रित करता है। आप अपना अनिष्ट न करें, यही प्रार्थना है।

प्रह्लाद की नम्रतापूर्ण किन्तु दृढ़ता से व्याप्त वाणी सुनकर हिरण्यकश्यपु क्रोध के मारे तिलमिला उठा। उसने अपनी लाल—लाल भयानक आँखें तरे कर प्रह्लाद की ओर देखा, मानो अपने क्रोधानल से ही हिरण्यकश्यपु को जला देगा। फिर कहा-विद्रोही छोकरे! अब अपने धर्म को याद करना। देखें तेरा धर्म तेरी क्या सहायता करता है? अभी तुझे धर्म का मधुर फल चखाता हूँ।

इतना कह कर उसने पुरोहितों को आज्ञा दी—'इसे आग में डाल कर जीवित ही जलाकर खाक कर दो!' पुरोहितों ने तत्काल हिरण्यकश्यपु के आदेश का पालन करना चाहा। उन्होंने धधकती हुई आग में प्रह्लाद को बिठलाया। उस समय की प्रह्लाद की धर्मश्रद्धा एवं समभावना से आकृष्ट होकर दैवी शक्ति ने चमत्कार दिखाया। वह अग्नि अपनी भीषण ज्वालाओं से पुरोहितों को ही जलाने लगी। प्रह्लाद के लिए वह जल के समान शीतल बन गई। आग से बचने के लिए प्रह्लाद ने एक श्वास भी प्रार्थना में नहीं लगाया उसने अपने बचाव के लिए परमात्मा से एक शब्द में भी प्रार्थना न की। 'हे ईश्वर! मेरी रक्षा करो' इस प्रकार की एक भी कातर उक्ति उसके मुख से नहीं निकली। वह जानता था—आत्मा जलने योग्य वस्तु नहीं है। वह आत्मा है—आत्मा का कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता। उसे कोई हानि नहीं पहुँचा सकता।

क्षण भर में पुरोहितों के हाहाकार और चीत्कार से आकाश व्याप्त हो गया।

राज्यसत्ता अपनी प्रतिष्ठा कायम रखने के लिए दूसरों को कष्ट देती रहती है। सारे संसार की राजनीति में इसी बात का ध्यान रक्खा जाता है। राज्यसत्ता ने अपनी प्रतिष्ठा का अस्तित्व रखने के लिए, प्रतिष्ठा का विस्तार करने के लिए और अपनी सत्ता को अक्षुण्ण

बनाये रखने के लिए गत महायुद्ध का भीषण रूप उपस्थित किया था। (और इसीलिए वर्त्तमान में भीषण संहार का नंगा नृत्य होरहा है। इस संहार के सामने गत महायुद्धका ध्वंस भी नाचीज़ ठहरता है।—संपादक)

हिरण्यकश्यपु ने अपनी प्रतिष्ठा को कायम रखने के लिए प्रह्लाद को उखाड़ना चाहा। पर उसकी दैवी शक्ति इतनी प्रबल थी कि उसके सामने हिरण्यकश्यपु की राजकीय शक्ति कातर बन गई।

मैं कई बार कह चुका हूँ कि धर्म वीरों का होता है, कायरों का नहीं। वीर पुरुष अपनी रक्षा के लिए लालायित नहीं रहते, वरन् अपने जीवन का उत्सर्ग करके भी दूसरे की रक्षा के लिए सदा उद्यत रहते हैं। वे प्रहार करने वाले की झिलमिलाती हुई तलवार को देख कर नहीं डरते। डरना तो दूर की बात है, उनका एक रोम भी नहीं धड़कता। वीर पुरुष प्रहार करने वालों को भी अपना सहायक समझता है। उसके विचारों में निरालापन होता है।

या निशा सर्वभूतानां, तस्यां जागर्त्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि, सा निशा पश्यतो मुनेः॥

जहाँ अन्य प्राणी अज्ञान रूप अंधकार का अनुभव करते हैं, वहाँ ज्ञानी पुरुष ज्ञान रूप प्रकाश की अवस्था का अनुभव करते हैं। अन्य प्राणियों को जो अवस्था प्रकाशमयी मालूम होती है, उसे ज्ञानी अन्धकारमयी मानता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि अज्ञानी जिसे असत्-बुरा या हेय समझता है उसीको ज्ञानी जन सत् अथवा उपादेय मानते हैं। राजसुकुमार के मस्तक पर दहकते हुए अंगार रक्खे गये परन्तु उन्होंने

अंगार रखने वाले को अपना उपकारक ही माना। आप लोग इस कथा को सदा सुनते हो और स्वीकार भी करते हो, किन्तु जब क्रिया करने का अवसर आता है तब कुछ और ही रँग दिखाने लगते हो !

जिन्होंने आत्मतत्त्व की उपलब्धि करली है, जो आत्मा के सहज स्वभाव में रमण करने लगे हैं, वे मारने वाले को भी उपकारी समझते हैं। उनका मन्तव्य होता है कि हम जहाँ कुछ समय के पश्चात् पहुँचने वाले थे वहाँ इस उपकारी ने जल्दी ही पहुँचा दिया है।

मित्रो ! धर्म बातों से नहीं होता। धर्म अनुष्ठान से—क्रिया से होता है। वीर पुरुष ही धर्म का पालन करते हैं। क्षत्रिय को तलवार का बल होता है. पर वीरों में वीर, दैवी शक्ति का धनी, आत्म-बल से सम्पन्न महात्मा तलवार के बल को हेय समझता है। वह अपनी आत्मिक शक्ति के द्वारा तलवार वाले की भी रक्षा करता है।

जिस समय प्रह्लाद को जलाने के लिए धधकाई हुई अग्नि पुरोहितों को ही भस्म करने लगी, तब प्रह्लाद ने प्रार्थना की—प्रभो! इन कातरों का त्राण करो। यह बेचारे अज्ञान प्राणी अपने भौतिक बल को ही प्रबल समझ बैठे हैं। इनकी बुद्धि अज्ञान से मलीन है। इन्हें क्षमा करो। दया करो, जिससे इन्हें शान्ति मिले !

जिस प्रह्लाद ने अपने परित्राण के लिए प्रार्थना का एक शब्द भी उच्चारण नहीं किया था, वही प्रह्लाद उसी को भस्म करने के लिए उद्यत हुए पुरोहितों के लिए परमात्मा के प्रति प्रार्थी बना। उसकी प्रार्थना निष्फल नहीं हुई। अग्नि शान्त हो गई और पुरोहित आश्चर्य करने लगे। वे बोले—ओह ! आग अचानक शान्त हो गई ! प्रह्लाद, तुम बड़े करामाती हो। यह विद्या तुमने कहाँ सीखी ?

प्रह्लाद बोला—

सर्वत्र दैत्या समतामुपेत्य,
समत्वमाराधनमच्युतस्य ॥

सब प्राणियों पर समताभाव लाओ। मारने वाले को भी मान दो। मारने वाले से मत डरो। डरने वाला ही क्रोध करता है और क्रोध करने वाला ही डरता है। जहाँ डर आया कि क्रोध आते देर नहीं लगती। अगर आपके पास एक ऐसी वस्तु हो जो त्रिकाल में भी आपको छोड़ कर कहीं नहीं जा सकती तो आप उस वस्तु के लिए चिन्ता करेंगे ?

'नहीं !'

जिस वस्तु के न छिनने का आपको भरोसा है, उसे छीनने का अगर कोई प्रयत्न करता है तो क्या आप उस पर क्रोध करेंगे ?

'नहीं !'

क्रोध तभी आता है जब उस वस्तु के जाने का भय हो।

जिस मनुष्य के पास सौ टंच का सच्चा सोना है, और जिसे सोने के सच्चे एवं विशुद्ध होने का विश्वास है, वह उस सोने की परीक्षा से भयभीत होगा ? अगर कोई आदमी उस सोने को तपाना चाहे तो क्या सोने का स्वामी घबराएगा ? कदापि नहीं। वह कहेगा- 'लीजिए, खूब तपाइए। सच्चा हो तो लीजिए।' इससे विपरीत जिसके पास सच्चा सोना नहीं है, नकली है, वह तपाने के लिए कहने पर क्या कहेगा ? वह कहेगा—वाहजी वाह ! आप मुझ पर इतना भी विश्वास नहीं करते ! अगर आपको मुझ पर विश्वास नहीं है तो रहने दीजिए। मेरा सोना मुझे लौटा दीजिए।' इस प्रकार नकली सोने वाले को क्रोध आवेगा।

तात्पर्य यह है कि सत्य में क्रोध नहीं होता, सत्य में भय नहीं होता, सत्य में कपट नहीं होता, सत्य में लोभ नहीं होता।

कड़े दगाबाज हैं। यह आपको छोड़कर चले जा सकते हैं। इसी कारण उनकी रक्षा के लिए आपको चिन्ता करनी पड़ती है। अगर ये आपको छोड़कर जाने वाले न होते तो आपको इनकी चिन्ता करनी पड़ती ? नहीं। क्योंकि जो स्वयं रक्षित है उसकी रक्षा करने की क्या आवश्यकता है ?

जो आत्माराम में रमण करता है, जिसे सच्चिदानन्द पर परिपूर्ण श्रद्धाभाव उत्पन्न हो चुका है, वह मरने से नहीं डरता, क्योंकि वह समझता है—मेरी मृत्यु असम्भव है, मैं वह हूँ, जहाँ किसी भी भौतिक शक्ति का प्रवेश नहीं हो सकता।

मित्रो ! यह विषय बड़ा गूढ़ है। एक दिन के व्याख्यान में इसे समझाना शक्य नहीं है। इसे हृदयंगम करने के लिए कुछ दिन बराबर इस विषय को सुनना चाहिए, इस पर मनन-चिन्तन भी करना चाहिए। जब इसे हृदयंगम कर लोगे तब इसका अभ्यास भी कर सकोगे।

जो मनुष्य सच्चिदानन्द के स्वरूप का अनुभव करने लगता है उसे डराने की शक्ति त्रैलोक्य में भी नहीं है। आप चाहे बाल्मीकि-रामायण को देखिए, चाहे जैन-रामायण को पढ़िए, सीता के अग्नि-स्नान का वर्णन कैसे जाज्वल्यमान आत्म-विश्वास का द्योतक है। जिसे सच्चिदानन्द पर पूरा विश्वास हो गया है, पाँचों भूत उसके सेवक बन जाते हैं। पौराणिक बातों को सिद्ध करने और उनमें रही हुई कल्पनाओं पर प्रकाश डालने का आज समय नहीं है। इस लिए आज इस विषय पर कुछ नहीं कहूँगा। अलबत्ता यह बता देना चाहता हूँ कि दैवी-शक्ति के छोटे-छोटे काम हम आज भी देख सकते

हैं। मैं एक बार घाटकोपर (बम्बई) में था, तब गोधरेज वंश के एक पारसी सज्जन, जिनकी गोधरेज की तिजोरियाँ बहुत प्रसिद्ध हैं, मुझ से मिलने आये। उन्होंने मुझे एक पुस्तक बताई। मैं अंग्रेजी भाषा जानता नहीं था, अतएव एक दूसरे मुनि से मैंने वह पुस्तक सुनी। उसमें एक स्थल पर लिखा था कि फ्रान्स देश में एक ऐसे डाक्टर हैं जो बड़ी मंद की गाँठों को सिर्फ हाथ फेर कर गिरा देते हैं, जैसे कोई वृक्ष पर से फल झाड़ लेता है। यह सब क्या है ? आत्म-बल का चमत्कार, मानसिक शक्ति की करामात !

आजकल के मनोविज्ञानवेत्ता मानवीय मन की शक्तियों की खोज में लगे हुए हैं। एक मनुष्य ने अपनी मानसिक-शक्ति के द्वारा बड़े जहाज को उलट दिया था। मेस्मेरेज्म एक हल्की जाति की मानसिक क्रिया है। भारतीय साहित्य में उसे त्राटक कह सकते हैं। यह एक बहुत ही हल्की क्रिया मानी गई है। इसका साधक भी जब मनचाहा काम कर सकता है तब बड़े मानसिक शक्ति वाले क्या काम न कर सकेंगे ? साधारण मनोबल वाला भी यदि मनुष्य को हँसा सकता है, रुला सकता है, इधर-उधर हिला-डुला सकता है तब उच्च-श्रेणी की मानसशक्ति प्राप्त कर लेने वाले को कौनसा काम असाध्य हो सकता है ? 'केसरी' पत्र के सम्पादक श्री केलकर ने चार इञ्च मोटे अष्ट-पहलू लोहे के डण्डे को केवल मानसिक-शक्ति के द्वारा कपड़े की तरह मोड़ कर रख दिया था। क्या यह साधारण तौर पर आसान काम है ?

जिस मनुष्य का आत्म-विश्वास प्रगाढ़ हो जाता है, उसके लिए ऐसा कोई काम नहीं रहता जिसे वह कर न सकता हो। लाखों-करोड़ों रुपये खर्च करने पर भी जो काम बखूबी नहीं होता, उसे आत्मबली बात की बात में कर डालता है। आत्मबलशाली के सामने समस्त शक्तियाँ हाथ जोड़े खड़ी रहती हैं।

रेडियम धातु के एक तोले का मूल्य चार करोड़ रुपया है। यह धातु बड़ी कठिनाई से मिलती है। इसका एक कण, जो माइक्रोसकोप से ही देखा जा सकता है, अगर शीशे की नली में बन्द कर दिया जाय और रोगी के ऊपर उसका प्रयोग किया जाय तो चमत्कार दिखाई देगा। परन्तु आत्मबल के पहाड़ में से यदि तुम कुछ भी शक्ति प्राप्त कर लोगे तो तुम्हें यह सब चमत्कार—यह सिद्धि—फीके जान पड़ेंगे।

परमात्मा की शक्ति अद्भुत है। इस तथ्य की परीक्षा जैन-दृष्टि से, वैष्णव-दृष्टि से, ईसाई-दृष्टि से, मुस्लिम-दृष्टि से या अन्य किसी भी दृष्टि से करो, अगर निष्पक्ष-भाव से परीक्षा करोगे तो उसका पता चल जायगा।

सब प्राणियों में आत्म-स्वरूप के दर्शन करो, तुम्हारा कल्याण होगा। ईश्वर आनन्द-घन रूप है। तमाम प्राणियों के हृदय में उसके दर्शन होते हैं। उसे पहचानने का प्रयत्न करो। मैंने तुकाराम की एक अभंग कविता पढ़ी है। उसमें भक्त-भागवतों को संबोधन किया गया है। तुम उसे अर्हद्-भक्त की दृष्टि से देखना। धर्म किसी एक की वस्तु नहीं है। वह सब की सामान्य सम्पत्ति है। जिसमें धर्म का समावेश हो वही हमारी है। असल में हमारा काम सत्य की खोज करना है। मैंने साधु का जो बाना पहना है सो लोक-दिखावे के लिए नहीं; पूजा-प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए भी नहीं, परन्तु परमात्मा की उपलब्धि के मार्ग पर अपने आत्मा को प्रस्तुत करने के लिए पहना है। तुकाराम का प्रश्न क्या है ? सुनिये :—

> वैष्णव मय जग वैष्णवांचा धर्म भेदाभेद भ्रम अमंगल.
> जी तुम्हीं भक्त भागवत कराल ते हित सत्य करा।
> कोणाही जिवाचा धर्मं मत्सर वर्मं सर्वेश्वर पूजना चे.
> तुका म्हणे एका देहा चे अवयव सुख-दुख जीव भोग पावे ॥

हे भागवतो-भक्तो ! हे वैष्णवो ! और ऐ जैन भाइयो ! प्राणी-मात्र के भीतर ईश्वर की मूर्त्ति है। आपने मन्दिरों में मूर्त्तियाँ देखी होंगी। कोई मूर्त्ति चाहे जैन-मन्दिर में देखी हो, चाहे वैष्णव-मन्दिर में देखी हो, वह वस्त्र पहने देखी हो चाहे बिना वस्त्र की, चाहे पद्मासन वाली देखी हो, चाहे खड्गासन वाली देखी हो, वह किसी भी अवस्था में हो, पर वह है मनुष्य की ही आकृति में। कलाकार मनुष्य ने उसका निर्माण किया है, क्योंकि वह प्राकृतिक नहीं है। इस कारण वह मनुष्याकृति में बनी है। हाँ, मूर्त्ति के निर्माण में जो कुछ भेद दिखाई देता है वह उसके बनवाने वाले की रुचि और श्रद्धा का भेद है। जिसकी जैसी रुचि और जैसी श्रद्धा थी, उसी के अनुसार वह बनाई गई है। पर बनाने वाले ने एक भूल की है। वह भूल क्या है ? उसने अपनी आकृति उसमें डाली है। आप बताइए कि आपकी आकृति मूर्त्ति में है या मूर्त्ति की आकृति आप में ? आपकी आकृति उसमें है, तब बनाई हुई मूर्त्ति के प्रति इतना प्रेम और आदर हो तथा जो मूर्त्ति कुदरती है—प्राणी-मात्र का निर्माण प्रकृति ने किया है, उससे नफ़रत की जाय, यह कैसी बात है ? जो कृत्रिम मूर्त्ति से प्रेम करता है और अकृत्रिम से घृणा करता है, उसे क्या कहा जाय ?

कोई भाई सोचेंगे कि मैं उनकी मूर्त्तियों की निन्दा करता हूँ ! सम्प्रदायों की भिन्नता के कारण एक दूसरे का अपमान करता है, निन्दा करता है, यह सही है। पर मैं किसी की निन्दा नहीं करता। धर्म के नाम पर निन्दा रूप अधर्म का आचरण करना मुझे रुचिकर नहीं है। मैं जो सत्य समझता हूँ वही कहता हूँ इसके अतिरिक्त यहाँ निन्दा का कोई प्रश्न ही खड़ा नहीं होता। मैं तो अकृत्रिम मूर्त्ति की महत्ता का दिग्दर्शन कराना चाहता हूँ। देखिए—

> देही देवालयः प्रोक्तो, जीवो देवः सनातनः।
> त्यजेदज्ञानःनिर्माल्यं, सोऽहं भावेन पूजयेत् ॥

यह देह मन्दिर है। इसमें विराजमान आत्मा देव-परमात्मा है। अज्ञान रूपी नर्माल्य (त्याज्य वस्तु) का त्याग करके सोऽहं भाव से उस परमात्मा की सेवा करना चाहिए।

यह 'सोऽहं' भाव क्या है ? इसको स्पष्ट करते हुये एक जैनाचार्य ने कहा है—

यः परमात्मा स एवाहं, योऽहं स परमस्ततः।
अहमेव मयाऽऽराध्यः, नान्यः कश्चिदिति स्थितिः॥

अर्थात जो परमात्मा है वही मैं हूँ। जो मैं हूँ वही परमात्मा है। इस प्रकार सोऽहं का अर्थ है—'मैं ईश्वर हूँ।'

यह आशंका की जा सकती है कि 'मैं ईश्वर हूँ।' ऐसा कहने और अनुभव करने से तो अभिमान आ जायगा। यह आशंका ठीक है। ऐसा कहने एवं अनुभव करने में अगर अभिमान आ जायगा तो वह कथन एवं अनुभव मिथ्या होगा। अभिमान वृत्ति का त्याग करके जब ऐसा अनुभव किया जायगा अथवा कहा जायगा तभी उसमें सचाई आएगी। अभिमान का आना अनिवार्य नहीं है। इस प्रकार की अनुभूति जिस उच्च भूमिका में प्रवेश करने पर होती है, उसमें अभिमान का भाव शान्त हो जाता है।

मित्रो ! अगर एकान्त में बैठ कर ध्यान का अभ्यास करोगे तो तुम्हें पता चल जायगा कि तुम ईश्वर से भिन्न नहीं हो। जो इस उन्नत अवस्था को प्राप्त करता है वही 'सोऽहं' बन सकता है। आध्यात्मिक भेद करते हुए सोऽहं का रूप इस प्रकार बताया गया है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥

गीता—३, ४२.

देह आदि पदार्थों से इन्द्रियाँ परे हैं, इन्द्रियों से मन परे है, मन से बुद्धि परे है और बुद्धि से भी परे सः अर्थात् आत्मा है।

सः अर्थात् आत्मा का ठीक ठीक अभिप्राय समझाने के लिए एक बात कहता हूँ।

एक गुरु के दो शिष्य थे। दोनों को सोऽहं का पाठ पढ़ाया गया और उस पर स्वतंन्त्र विचार—अनुभव करने के लिए कहा गया।

दोनों शिष्यों में एक उद्दण्ड स्वभाव का था। उसने साधना तो कुछ की नहीं और सोऽहं—मैं ईश्वर हूँ, इस प्रकार कह कर अपने आप परमात्मा बन बैठा। वह अपने परमात्मा होने का ढिंढोरा पीटने लगा। जो मिले उसीसे कहता—मैं ईश्वर हूँ। लोगों ने उसकी मूर्खता का इलाज करने के लिए उसके हाथों पर जलते अंगार रखने चाहे। तब वह बोला—हैं! यह क्या करते हो? हाथ पर अंगार रख कर मुझे जलाना क्यों चाहते हो?

लोगों ने कहा—'भले आदमी! कहीं ईश्वर भी जलता होगा?' फिर भी वह मूर्ख शिष्य अपनी मूर्खता को न समझ सका। वह अपने को ईश्वर कहता ही रहा। एक आदमी ने उसके गाल पर चाँटा मारा। वह बोला—क्यों तुमने मुझे चाँटा मारा?

वह आदमी—मूर्ख! कहीं ईश्वर के भी चाँटा लगता है?

मगर उसकी मूर्खता का रंग इतना कच्चा नहीं था। वह चढ़ा रहा। वह लोगों के विनोद का पात्र बन गया। उससे अधिक वह कुछ न कर सका। पर दूसरा शिष्य साधना में लगा। वह एकान्त-वास करने लगा और सोचने लगा—मैं अनेक प्रकार के रूप देख रहा हूँ, यह आँखों का प्रभाव है। मैं अनेक काव्य सुनता हूँ, यह कानों की शक्ति है। नाना प्रकार के रसों का आस्वादन करना जिह्वा

का काम है। किसी वस्तु का स्पर्शज्ञान होना हाथ-पैर आदि का काम है। मैंने जो गंध सूँघे हैं सो नाक के द्वारा। तो अब मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ कि यह इन्द्रियाँ ही सोऽहं है।

वह अपना निष्कर्ष लेकर प्रसन्न होता हुआ गुरुजी के पास पहुँचा। गुरुजी से बोला—महाराज, मैंने सोऽहं का पता पा लिया है।

गुरुजी—कैसे पता पा लिया ?

शिष्य—जो इन्द्रियाँ हैं वही सोऽहं है।

गुरुजी—जाओ, अभी और साधना करो। तुम्हें अभी तक सोऽहं का ज्ञान नहीं हुआ।

शिष्य चला गया। उसने सोचा—मैं अब तक सोऽहं का पता न पा सका। खैर, अब फिर प्रयत्न करता हूँ।

वह फिर साधना में जुट गया। विचार करने लगा—गुरुजी ने कहा है— इन्द्रियाँ सोऽहं नहीं हैं। वास्तव में इन्द्रियाँ सोऽहं कैसे हो सकती हैं। इन्द्रियाँ सोऽहं होतीं तो अस्थिरता कैसे होती ? इन्द्रियाँ बचपन में जैसी थीं आज वैसी कहाँ हैं ? इसके अतिरिक्त मैंने भूतकाल में अनेक शब्द सुने थे। उनका आज भी मुझको ज्ञान है, यद्यपि वे वर्त्तमान में नहीं बोले जा रहे हैं। भूतकाल में मैंने जो विविध रूप देखे थे वे आज दिखाई नहीं दे रहे हैं फिर भी उनका मुझे स्मरण है। अगर इन्द्रियाँ ही जानने वाली होतीं तो वर्त्तमान में भूतकालीन विषयों को कौन स्मरण रखता ? इससे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि इन्द्रियों से परे कोई ज्ञाता अवश्य है। तब फिर वह कौन है ?

उसने समस्या पर गहराई के साथ विचार किया। तब उसे जान पड़ा कि इन सब क्रियाओं में मन की प्रेरणा रहती है। अतएव

मन ही सोऽहं होना चाहिए। इसप्रकार निश्चय करके वह गुरुजी के पास आया। बोला—गुरु महाराज, मैं सोऽहं का मतलब समझ गया।

गुरुजी—क्या समझे ?

शिष्य—यह जो मन है सो ही सोऽहं है।

गुरुजी—फिर जाओ और साधना करो।

शिष्य फिर चला गया। उसने फिर साधना आरम्भ की। सोचा—मन सोऽहं नहीं है। ठीक है। मन को प्रेरित करने वाला कोई और ही है। उसी का पता लगाना चाहिये। उसने बहुत विचार किया। तब उसे मालूम हुआ। मन को बुद्धि प्रेरित करती है। इसलिए मन से परे बुद्धि सोऽहं है। वह फिर गुरुजी के पास पहुँचा। कहने लगा—गुरुजी, अब मैंने सोऽहं को समझ पाया है।

गुरुजी—क्या है, बताओ ?

शिष्य—मन से परे बुद्धि सोऽहं है।

गुरुजी—वत्स, जाओ, अभी और साधना करो।

शिष्य बेचारा फिर साधना में लगा। सोच विचार के पश्चात् उसने स्थिर किया—गुरुजी ने ठीक ही कहा है कि बुद्धि सोऽहं नहीं है। अगर बुद्धि सोऽहं होती तो उसमें विचित्रता-विविधता क्यों होती ? कभी वह विकसित होती है, कभी उसमें मंदता आ जाती है। कभी अच्छे विचार आते हैं, कभी बुरे विचार आते हैं। इससे जान पड़ता है कि बुद्धि के परे जो तत्त्व है वही सोऽहं है।

शिष्य बड़ी प्रसन्नता के साथ गुरुजी के पास पहुँचा। बोला—महाराज, अब की बार सोऽहं का पक्का पता चला लाया हूँ।

गुरुजी—क्या ?

शिष्य—जो गुह्य तत्त्व बुद्धि से परे है, जिसकी प्रेरणा से बुद्धि का व्यापार होता है, वह सोऽहं है।

गुरुजी—(प्रसन्नतापूर्वक) हाँ अब तुम समझे। जो कुछ तुम हो वही ईश्वर है। उसी को सोऽहं कहते हैं।

मित्रो! आत्मा का पता आत्मा के द्वारा आत्मा को ही लग सकता है। परन्तु आपने आत्मा के आच्छादनभूत बाह्य पदार्थों को महंगा बना लिया है, अतएव आपकी गति बाहर तक ही सीमित है। बाह्य आवरणों को चीर कर आप भीतर नहीं झांक पाते। आप पूछेंगे—कैसे ? मैं कहता हूँ—ऐसे बताइए रूप बड़ा है या आँखें ?

'आँखें' !

तो फिर रूप का लोभ क्यों करते हो ? इसी प्रकार अन्यान्य बातों में भी समझना चाहिए। आप रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि के लोभ में पड़ गये हैं, इसी से आगे का काम रुका पड़ा है। मछली, मांस लगे हुए जाल के काँटे में फँस जाती है। वह जानती है—मैं मांस खाने जाती हूँ; उसे यह नहीं मालूम कि वह मांस खाने नहीं जा रही वरन् मांस देने जा रही है।

मित्रो! मान लीजिए, एक धीवर समुद्र के किनारे जाल के काँटे में माँस लगाकर मछलियाँ पकड़ने की कोशिश कर रहा है। नासमझ मछलियाँ माँस के लोभ से जाल की ओर बढ़ी चली आ रही हैं। आप दयावान् हैं और मछलियाँ अगर आपकी भाषा समझ सकती हैं तो आप उनसे क्या कहेंगे ? आप उनसे कहेंगे—'बहिनो! जिसके लिए तुम दौड़ी चली आ रही हो वह मांस नहीं, तुम्हारा नाश है—तुम्हारा ध्वंस है। इधर मत आओ।' लेकिन आप जानते हैं कि मछलियाँ आपकी भाषा नहीं समझतीं। इसलिए आप उनसे कुछ न

कह कर सीधे धीवर से कहेंगे—'प्यारे, यह सब अज्ञान हैं और निरपराध हैं। इन्हें मत मार।'

जैसे आप मछलियों पर करुणा करते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी-जन सारे संसार पर करुणा लाता है। वह कहता है—ऐ मनुष्यो! कुछ आत्म-कल्याण का काम करो। खाने-पीने पर अंकुश रक्खो। दूसरों को आनन्द पहुँचाओ! ऐसा करने से तुम्हारा मनोरथ जल्दी पूर्ण होगा।

मित्रो! आज खाने-पीने के मामले में बड़ी गड़बड़ी चल रही है। पहले धर्म के लिए सात्विक भोजन किया जाता था पर आज स्वाद के खातिर पकवानों का भोजन किया जाता है। याद रखिए, पकवान जीभ को क्षण-भर के लिए भले ही तृप्त कर दें, पर उनसे आयु क्षीण होती है—वे शरीर को जल्दी ही नष्ट कर डालते हैं। अगर आपको विश्वास न हो तो एक आदमी को पन्द्रह दिन तक सिर्फ पकवानों पर रखकर और दूसरे को सिर्फ दाल रोटी पर रखकर देखा जा सकता है। दोनों के स्वास्थ्य की तुलना करने से आपको विदित होगा कि तन्दुरुस्ती के लिए क्या उपयोगी है और क्या हानिकारक है?

आप अंट-संट खाकर जीभ की आराधना करते रहें और ईश्वर पद मिल जावे, यह कैसे सम्भव है? जब तक इन्द्रियों की गुलामी नहीं छूटती तब तक ईश्वरत्व की प्राप्ति होना असंभव है।

आप भोजन करते हैं, मगर कुछ काम भी तो करना चाहिए। मेरा आशय साँसारिक प्रपंचों से नहीं, ईश्वर-भजन से है। भोजन करने वाले को भजन भी करना ही चाहिए। रेल को चलाने के लिए एंजिन में कोयला और पानी देकर स्टीम (वाष्प) पैदा की जाती है। अगर एंजिन का ड्राइवर (चालक) एंजिन को ही इधर-उधर घुमाया

करे और उसके साथ डिब्बे न जोड़े तो क्या वह ड्राइवर रेलवे कम्पनी को कुछ लाभ पहुँचा सकता है ? क्या कम्पनी का व्यवस्थापक उसे उपालम्भ न देगा ? मित्रो ! आप अपने पेट रूपी एंजिन को केवल भोजन ही कराया करोगे या उससे कुछ काम भी लोगे ? हाथ में सुन्दर छड़ी और कलाई पर सुनहरी घड़ी बाँध कर ऐंठ-अकड़ के साथ चलते रहोगे या परोपकार की गाड़ी—डिब्बे भी खींचोगे ? परोपकार करने का अवसर आने पर आप मुंह फेर लेते हो। कोई दुःखी प्राणी आपसे बड़ी आशा और उत्सुकता के साथ कहता है— 'प्यारे, हे मालिक, तुम्हारे हाथ से मेरा यह काम हो सकता है। कृपा करके मेरी थोड़ी-सी सहायता कर दीजिए।' तब आप में से बहुत से भाई क्या उत्तर देते हैं ? कहते हैं—'चल बे चल, तेरा काम करें या हवा खाने जाएँ ! जा, अभी मेरे पास समय नहीं है। दिन-भर अपने काम से फुर्सत नहीं और अब तुझ से सिरपच्ची कौन करे ?' दोस्तो ! ऐसे स्वार्थ पर विचारों को धिक्कार दो। इस जीवन में जितना बन सके, दूसरों का उपकार करो।

धिक् तेरा जीवड़ा न करता धरम को धिक् तेरा तन धन धिक है जोवन को।
पेट भर्यो पशुअन की नांई, रात सोयो दिन यों ही गँवाई ॥
पापी को देख के शीस नमावे, धर्मी को देख के बहु अकड़ावे।
धिक् तेरी जननी जो तोहूं जायो, नाम बिना सब थान लजायो ॥

यह उपालम्भ अपने लिए ही समझो। मूर्ख ड्राइवर की भाँति अकेला एंजिन ही मत घुमाया करो। कहते शर्म-सी मालूम होती है कि आप में से कई भाई इधर-उधर की लट-पट की बातें, घर-घर आग लगाने की बातें करते फिरते हैं, पर छोटा-सा परोपकार का कार्य भी उनसे नहीं होता। उनकी यह खटपटें बेकाम हैं। मैं नहीं कहता कि तुम एकान्त परोपकार ही में लगे रहे—हालाँकि ऐसा कहा जा

सकता है—पर मैं तो केवल यही कहता हूँ कि अपनी शक्ति के अनुसार अवश्य करो। जो मनुष्य परोपकार के गहरे तत्त्व को पहुँच जाता है, उसे दुनियाँ देवता की भाँति पूजती है। उसे जनता अपने हृदय का हार बना लेती है। उसके लिए सदा-सर्वदा अपना सर्वस्व समर्पण करने के लिए तैयार रहती है। शास्त्रों में और लौकिक इतिहास में ऐसे बहुत से जाज्वल्यमान उदाहरण मौजूद हैं।

मित्रो! धर्म के इस तत्त्व को प्राप्त करके व्यवहार करोगे तो कल्याण होगा।

लूणियों की कोठी
भीनासर
३—८—२७.

४
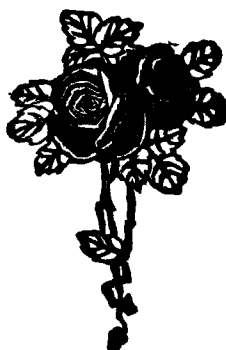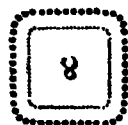
आघात-प्रत्याघात

प्रार्थना

श्री आदीश्वर स्वामी हो, प्रणमूं सिर नामी तुम भणी ॥
प्रभु अन्तर्यामी आप, मो पर म्हेर करीजे हो ।
मेटीजे चिन्ता मन तणी, म्हारा काट पुराकृत पाप ॥

यूरोपियन सज्जन टाल्सटाय एक बड़े विद्वान् और विचारशील पुरुष माने गये हैं। यह कोरे विद्वान् ही नहीं थे किन्तु उन्होंने अपना जीवन इतना उच्च बना लिया था कि वे एक आदर्श पुरुष गिने गये हैं, उनका जीवन दृढ़ धर्ममय था। उनके जीवन का एक-एक दिन ऐसा बीतता था कि उसकी छाप दूसरों पर पड़े बिना नहीं रहती थी। उनका जीवन कसाईखाना देख कर धर्ममय बना था।

कहते हैं, टाल्सटाय हमेशा कसाईखाने में पशुओं का वध देखने जाते थे। वहाँ जब पशुओं की गर्दन पर छुरी चलाई जाती थी तब उनके रोंगटे खड़े हो जाते थे। उस समय वे सोचते—'हाय! यह छुरी इसी तरह हमारी गर्दन पर चले तो हमें कितना कष्ट हो! हम कितने छटपटाएँ! बेचारे यह मूक प्राणी पराधीन हैं।

अपनी रक्षा नहीं कर सकते ! परतंत्रता की जंजीर में जकड़े हुए इन प्राणियों को छुड़ाने वाला कौन है ?'

यह बेचारे परतंत्र हैं, पर मारने वाला भी कौन स्वतंत्र है ? वह भी परतंत्र है। वह परतंत्र न होता तो वह पापमय जीवन क्यों बिताता ? मारने वाला परतंत्र क्यों है ? कौन उसे गुलाम बनाये हुए हैं ? उत्तर मिलता है—मारने वाला तृष्णा, लोभ, मोह और अज्ञान आदि का दास है। वह मोह से अन्धा पुरुष प्राणियों का मांस खा कर अपना मांस बढ़ाना चाहता है। वह असहाय, निर्बल और मूक प्राणियों की हत्या करके अपना पोषण करना चाहता है। वह दूसरों के प्राणों की परवाह न करके अपने प्राण बचाना चाहता है। उसे दूसरों की चिन्ता नहीं है। दूसरों का दुःख देख कर उसे करुणा नहीं आती मगर सोचना चाहिए कि यदि ऐसा ही समय मेरे लिए आवेगा तो मेरा क्या हाल होगा ?

आखिर मनुष्य उन प्राणियों को किस कसूर से मारता है ? उन्होंने उसका क्या गुनाह किया है। जिससे वह उनके प्राणों का ग्राहक बनता है ? क्या उन प्राणियों ने उसका कुछ अपहरण किया है ? उसे गाली दी है ? उसका कुछ बिगाड़ किया है ? नहीं, तब वे क्यों मारे जाते हैं ?

यह तमाम बेचारे प्राणी भद्र हैं। इनमें बहुत से घास खाकर अपना गुजर करते हैं। ये प्रकृति की शोभा हैं। प्रकृति की शोभा को नष्ट करके आनन्द मानते हैं। इन मनुष्यों का मजा और बेचारों की कजा ! कजा में मजा मानने का कुछ हिसाब भी होता है ?

हाँ, होता क्यों नहीं है। लेकिन हम अपने शास्त्र की बात न कह कर यही बतलाना चाहते हैं कि पाश्चात्यों का इस विषय में

क्या मत है ? विज्ञान के जानने वालों ने इस सम्बन्ध में अपनी क्या राय जाहिर की है ?

उनका मन्तव्य है कि गति की प्रतिगति और आघात का प्रत्याघात अवश्य होता है। उदाहरण के लिए किसी पर्वत के पास जाकर आवाज दी जाय कि—'तुम्हारा बाप चोर।' तो उस ध्वनि की प्रतिध्वनि होगी—'तुम्हारा बाप चोर।' जैसी ध्वनि की जायगी वैसी प्रतिध्वनि होगी। अगर कोई अपने बाप को चोर कहलाना चाहे तो वह उक्त ध्वनि अपने मुंह से निकाले। न चाहे तो वह ध्वनि न करे। जैसे प्रतिध्वनि सुन कर अपने बाप को चोर कहा जाने के कारण तुम्हें दुःख होता है, उसी प्रकार दूसरे को भी दुःख होता है। अतएव जो स्वयं कटु शब्द नहीं सुनना चाहता उसे अपने मुंह से कटु शब्द नहीं निकालने चाहिए।

मंगल से मंगल और अमंगल से अमंगल होता है। आघात का प्रत्याघात होता रहता है। आज तुम जो पार्ट दूसरे से करवा रहे हो वही तुम्हें भी कभी करना पड़ेगा। सारांश यह है कि यदि तुम किसी को कष्ट दोगे तो तुम्हें कष्ट मिलेगा। अगर तुम किसी के प्राण लोगे तो तुम्हें भी प्राण देने पड़ेंगे। शस्त्र से गर्दन उड़ाओगे तो कभी गर्दन उड़वानी पड़ेगी। दूसरे के शरीर का मांस खाओगे तो दूसरे को मांस खिलाना पड़ेगा।

हाँ, एक बात जरूर है। प्रकृति की शोभा को क्षति न पहुँचाते हुए, सरलता से, बिना किसी को कष्ट पहुँचाये, जो आहार प्राप्त किया जाता है उसे अधर्म नहीं कह सकते। धर्म किसी का नाश नहीं चाहता। जो मनुष्य न्याय-नीति से पैसा पैदा करता है, उसे कोई चोर या बदमाश कह कर दंड देता है ? नहीं, पर जो नीति-अनीति का कुछ

की ख्याल नहीं करता, केवल पैसों से अपना जेब भरना चाहता है उसे कोई क्या कहेगा ?

'चोर ! बदमाश !'

उसे दंड मिलेगा ?

'अवश्य !'

यही बात आहार प्राप्त करने में समझनी चाहिए। तो अपने मौज-शौक के लिए, अपनी जीभ को तृप्त करने के लिए, मूक प्राणियों का मांस खाता है उसे भी दंड मिले बिना न रहेगा।

बालक माता के स्तन से दूध पीता है, यह उसका धर्म अर्थात् स्वभाव है, पर जो बालक स्तन का खून पीना चाहता है उसे क्या बालक कहेगा ? लोग उसे बालक नहीं, ज़हरीला कीड़ा कहेंगे।

प्रकृति हमें, गाय, भैंस आदि से दूध दिलाती है। इससे हमारा बड़ा उपकार होता है। किन्तु हमारी अधीरता इन पशुओं का जल्दी खात्मा कर एक-दो दिन पेट भर कर, अधिक दिनों तक पेट भरने वाले घी-दूध के स्रोत को बन्द कर देती है। मतलब यह कि लोग फलों को धीरे-धीरे आता देख कर वृक्ष का ही मूलोच्छेदन कर डालते हैं।

किन्तु इस गरीब गूंगे प्राणियों की वकालत कौन करे ? अचम्भे की बात है कि इनकी करुणा भरी चीख को सुन कर हत्यारों का दिल पत्थर-सा क्यों बना रहता है ? विश्व के सर्व श्रेष्ठ कहलाने वाले प्राणी का—मनुष्य का— अन्तःकरण इतना कठोर कैसे बन गया है ? वह हद दर्जे का अविवेकी क्यों हो गया है । इसका कारण मनुष्य की परतंत्रता है ! मनुष्य काम, क्रोध, मोह आदि ने अपने चङ्गुल

में ऐसी बुरी तरह जकड़ लिया है कि वह कुछ कर नहीं पाता। उसकी बुद्धि पर काला पर्दा पड़ गया है, जिसके कारण कुछ भी नहीं सूझता।

हाँ बैठे हुए अधिकांश भाई अमांसाहारी हैं। वे सोचते होंगे— 'केवल मांसाहारी ही पापी होते हैं। हम पाप से बचे हुए हैं।' लोगों को दूसरे की किसी बात की टीका सुन कर सन्तोष होता है, मज़ा आता है, परन्तु जब उनके किसी काम की टीका की जाती है तब उन्हें बुरा लगता है। लेकिन सच्चा आदमी तो वही है जो सच्ची बात कहे। हितचिन्तक उसी को समझना चाहिए जो श्रोता की रुचि-अरुचि की चिन्ता न कर के श्रोता के हित की बात बतलाए। फिर श्रोता जिस व्यक्ति पर श्रद्धा रखता है, जिसे अपना पथप्रदर्शक मानता है, उस पर तो यह उत्तरदायित्व और अधिक है कि वह अपने श्रोता को सत्य बात कहे। ठीक ही कहा है—

> रूसउ वा परो मा वा, विसं वा परियत्तउ ।
> भासियव्वा हिया भासा, सपक्खगुणकारिया ॥

चाहे कोई रुष्ट हो, चाहे तुष्ट हो, चाहे विष ही क्यों न उगलने लगे, लेकिन स्वपक्ष को लाभ पहुँचाने वाली, हितकर बात तो कहना ही चाहिए।

जो व्यक्ति अपने श्रोता का लिहाज करता है, अपने श्रोता की अरुचि का विचार करके उसे सत्य तत्त्व का निदर्शन नहीं कराता, वरन् उसे प्रसन्न करने के लिए मीठी-मीठी चिकनी-चुपड़ी बातें करता है, वह श्रोता का भयंकर अपकार करता है और स्वयं अपने कर्त्तव्य से च्युत होता है। रोगी की अरुचि का विचार करके उसे आवश्यक

कटुक औषधि न देकर, उसके बदले मिष्टान्न खिलाने वाला व्यक्ति क्या रोगी का सच्चा हितैषी है ?

हाँ, तो जो भाई केवल मांसाहारियों को ही पापी समझता है, उसे अपने थोकड़े खोलकर देखना चाहिये कि पाप कितने होते हैं। हिंसा के अतिरिक्त और भी कोई पाप है या नहीं ? क्या उन पापों का आचरण करने वाला पापी नहीं गिना जायगा ?

जैन-शास्त्र में अठारह प्रकार के पाप बताये गये हैं। जैसे हिंसा, झूठ, चोरी, जारी, क्रोध, मान, आदि। जो इन पापों का सेवन करता है और धर्मात्मा बनने की डींग मारता है वह क्या वास्तव में धर्मात्मा है ? नहीं।

'पाप से बचना चाहिए और धर्म का आचरण करना चाहिए' यह बात बहुत से भाई कहते हैं परन्तु पापों से बचने का और धर्माचरण करने का प्रयत्न बहुत कम लोग करते हैं। यह लोग कसाई को बुरा कहते हैं, उसे पापी समझते हैं, पर स्वयं जालसाजी करने से बाज नहीं आते, कपट करने से नहीं चूकते, दूसरों पर दोष मढ़ना नहीं भूलते, गरीबों के गले दबोचने में भय नहीं खाते, झूठे मुकद्मे चलाने में शर्म नहीं लाते, झूठी गवाई पेश करने में पीछे पैर नहीं धरते, दूसरे के धन का स्वाहा करने में नहीं हिचकते, पराई स्त्रियों पर खोटी नजर रखने में घृणा नहीं करते, कहाँ तक कहा जाय, ये पाप करते हैं पर पापी कहलाने में अपनी तौहीन समझते हैं। कसाई छुरी फेर कर कत्ल करता है पर वे कलम चला कर कई बार, कइयों की एक ही साथ हत्या कर डालते हैं। कसाई हत्या करके हत्यारा कहलाता है, मगर ये इस प्रकार की हत्याएँ करके भी धर्मात्मा बने रहते हैं।

इन बेचारों को यह नहीं मालूम कि जैसे हम फँसाते हैं वैसे ही हम फँसाये जाएँगे। हम मारते हैं तो कभी मारे भी जाएँगे। आघात का प्रत्याघात हुए बिना नहीं रहेगा।

मित्रो! शास्त्र कहता है, एक बार तमाम प्राणियों को अपनी आत्मा के तुल्य देख जाओ, फिर पता लग जायगा कि दूसरों का दुःख कैसा होता है!

आत्मौपम्येन पुरुषः प्रमाणमधिगच्छति।

समस्त प्राणियों को आत्मा के तुल्य देखने पर सुख-दुःख की साक्षी तुम्हारा हृदय अपने आप देने लगेगा। आपको फिर शास्त्रों के देखने की जरूरत नहीं रहेगी। सच्चिदानन्द स्वयं ही शास्त्रों का सार बता देगा। कल्पना कीजिए—एक आदमी आपकी गर्दन पर तलवार मारना चाहता है! वह समझता है, मारना मेरा धर्म है। उसी के पास खड़ा हुआ दूसरा आदमी मारने वाले से कहता है—खबरदार, हाथ मत उठाना! इस प्रकार एक आदमी मारने के लिए उद्यत होता है और दूसरा बचाने के लिए तैयार होता है। अब अपने अन्तःकरण को साक्षी बनाकर सोच लीजिए कि आपको इनमें से कौन अच्छा लगता है?

'बचाने वाला!'

इस निर्णय के लिए किसी शास्त्र की आवश्यकता है?

'नहीं!'

अगर कोई किसी शास्त्र का उध्धरण देकर कहे कि मारने वाला अच्छा है तो आप क्या कहेंगे?

'यही कि शास्त्र झूठा है।'

तो साराँश यह है कि सच्चिदानन्द की शक्ति अद्भुत है। इसमें अनन्त ज्ञान और अनन्त शक्ति विद्यमान है। इस पर विश्वास लाओ। इसकी ओर दृष्टि लगाओ। अन्तर्दृष्टि बनोगे तो अपूर्व प्रकाश मिलेगा।

प्रह्लाद अग्नि में डाल दिया गया मगर वह भस्म नहीं हुआ। तब दैत्यों ने पूछा—'ऐ प्रह्लाद! तुमने यह शक्ति कैसे पाई है!' प्रह्लाद ने कहा—

सर्वत्र दैत्याः समतामुपेत्य,
समत्वमाराधनमच्युतस्य ॥

हे दैत्यो! समता धारण करो। तुम्हारे भीतर भी वह शक्ति आ जायगी।

प्रह्लाद को कितना कष्ट दिया गया था! वह शस्त्र से काटने पर भी न कटा। जहरीले सर्पों से डँसाया गया पर जहर का कुछ भी असर न हुआ। मदोन्मत्त हाथियों के पैरों के नीचे कुचलवाने के लिए डाला गया पर हाथी उसे कुचल न सके। वह पर्वत पर से पटका गया मगर चूर-चूर न हुआ। उसे भस्म करने के लिए आग में डाला, पर आग ठण्डी हो गई। यह सब किसका चमत्कार था? आत्म-शक्ति का। अमोघ आत्मिक-शक्ति के आगे तमाम भौतिक शक्तियाँ बेकाम हो गईं।

यह विज्ञान का युग है। लोग प्रमाण दिए बिना किसी बात को स्वीकार नहीं करना चाहते। वे अपने बाह्य ज्ञान से समझते हैं कि आग एक आदमी को जलावे और दूसरे को न जलावे, यह कैसे हो सकता है! क्या यह सम्भव है कि शस्त्र से एक आदमी कटता है और दूसरा नहीं, विष-पान करने से एक का प्राणान्त होता है और

दूसरे का नहीं। मगर आत्मबल की महिमा समझ लेने पर इस प्रकार की आशंकाएँ निर्मूल हो जाती हैं। आध्यात्मिक बल के समक्ष भौतिक शक्तियाँ क्षुद्र बन जाती हैं। आग ने क्या सीता को जलाया था ?

'नहीं !'

क्यों ? क्या अग्नि भी पक्षपात में पड़ गई थी ? उसे किसने सिखाया कि एक को जला और दूसरे को नहीं ? शस्त्र का काम काट डालना है पर उसने कामदेव श्रावक को क्यों नहीं काटा ? शस्त्र क्या अपना स्वभाव भूल गया था ? विष खाने से मनुष्य मर जाता है, मगर मीरा बाई क्यों न मरी ? क्या विष अपने कर्त्तव्य से चूक गया था ? सत्य यह है कि आत्मबली के सामने अग्नि ठंडी हो जाती है, शस्त्र निकम्मा हो जाता है और विष अमृत बन जाता है। इस सत्य की साक्षी शास्त्र ही नहीं वरन इतिहास, प्रत्यक्ष प्रमाण और अनुभव दे रहा है।

कृष्णाकुमारी की बात अधिक पुरानी नहीं है। वह मेवाड़ के राणा भीमसिंह की कन्या थी। कहा जाता है कि उसकी सगाई पहले जोधपुर की गई थी पर कारणवश बाद में जयपुर कर दी गई। जोधपुर वाले चाहते थे कि इसका विवाह हमारे यहाँ हो और जयपुर वालों की भी यही इच्छा थी।

कृष्णाकुमारी अपने समय में राजस्थान की अद्वितीय सुन्दरी थी। उसके सौन्दर्य की महिमा चारों ओर फैली हुई थी। ऐसी स्थिति में उसे कौन छोड़ना चाहता ? जिस पर प्रतिष्ठा का भी प्रश्न था।

विवाह की निश्चित तिथि पर जयपुर और जोधपुर वाले दोनों ब्याहने जा पहुँचे। जयपुर वालों ने कहलाया—'अगर कृष्णाकुमारी

हमें न दी गई तो रण-भेरी बज उठेगी।' जोधपुर वालोंने कहलाया—'अगर कृष्णाकुमारी का विवाह हमारे यहाँ न किया गया तो हम मेवाड़ को धूल में मिला देंगे!'

राणा भीमसिंह कायर था। वह मरने से डरता था। उसे उन खूँख्वार भेड़ियों को कुछ भी जवाब देने की हिम्मत न हुई। वह मन ही मन घुल रहा था। उसे समझ नहीं पड़ता था कि इस समय क्या करना चाहिए और क्या नहीं? आखिर किसी ने उसे सलाह दी—इस विपदा का कारण राजकुमारी कृष्णाकुमारी है। अगर इसे मार दिया जाय तो झगड़ा ही खत्म हो जाय! फिर न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी।

प्रताप के शुद्ध वंश में कलंक लगाने वाले और मातृ-भूमि के उन्नत मस्तक को नीचा करने वाले कायर राणा ने यह सलाह मान ली।

सलाह को कार्य में परिणत करने के लिए हृदयहीन डरपोक राणा ने अपनी प्यारी पुत्री को दूध में विष मिलाकर अपने ही हाथों से पीने के लिए प्याला दे दिया। भोली-भाली कुमारी को कुछ पता न था। उसने समझा—'सदा दासी दूध का प्याला लाकर देती है, आज प्रेम के कारण पिताजी ने दिया है।' कृष्णाकुमारी विषमिश्रित दूध पी गई पर उस पर जहर का तनिक भी असर न हुआ। दूसरे दिन उस हत्यारे राणा ने फिर विषमय दूध का प्याला दिया। कुमारी को किसी प्रकार की शंका तो थी ही नहीं, वह फिर उसे गटगट पी गई। आज भी विष का प्रभाव नहीं हुआ। तीसरे दिन फिर यही घटना घटने वाली थी कि किसी प्रकार कुमारी के कान में बात पड़ गई। उसने सोचा—'हाय! मुझे मालूम ही नहीं हुआ, अन्यथा पिताजी को इतना कष्ट न देती। मेरी ही बदौलत मेरी मातृभूमि पर

घोर संकट आ पड़ा है। अगर मैं पुरुष होती तो युद्ध में प्राण निछावर करके मातृ-भूमि की सेवा करती। मगर खैर, आज पिताजी विषैला दूध पिलाने आयेंगे तो उसे पीकर मातृ-भूमि का संकट टालने के लिए अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दूंगी।

आखिर वही हुआ। कृष्णा ने विषमिश्रित दूध का प्याला पीकर अपने प्राण दे दिये। आज मेवाड़ के इतिहास में उसका नाम सुनहरे अक्षरों में लिखा हुआ है।

इस कथा से यह प्रश्न उपस्थित होता है कि विष दो दिनों तक अपना असर क्यों नहीं दिखा सका? और तीसरे दिन उसने क्यों प्रभाव डाला? इसका उत्तर यह है कि दो दिन उसे उसका पता ही नहीं था—कृष्णा की मृत्यु की भावना ही नहीं थी। वह पिता के द्वारा दिये हुए दूध को अमृत के समान समझ रही थी। इसी मनोबल की शक्ति से विष उसका बाल भी बाँका न कर सका। तीसरे दिन वह मनोबल नहीं रहा। उसने विष को विष समझकर पिया, इसलिए उसकी मृत्यु हो गई। यह भावना-बल, मनोभावना या आत्मबल का प्रताप है। सुदृढ़ मनोबल के सामने विष और शस्त्र आदि अपने स्वभाव को छोड़ देते हैं। उनकी शक्ति भावनाबल से प्रतिहत होजाती है।

सीता की अग्नि परीक्षा हुई। मगर अग्नि उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकी। जो लोग निसर्गतः अश्रद्धालु हैं वे भले ही इस बात को स्वीकार न करें, पर अमेरिका और यूनान आदि के इतिहास में इसकी पुष्टि में प्रमाण मिलते हैं। निकट भूतकाल में भी इस बात को सत्य सिद्ध करने वाली अनेक घटनाएँ घटी हैं। जो आत्म-तत्त्व के ज्ञाता हैं, उन्हें मालूम है कि आत्मा में अनन्त शक्ति भरी पड़ी है। आत्मा की शक्ति का पारावार नहीं है। आवश्यकता है उसे विकसित

करने की। आत्मिक शक्तियों का आविर्भाव और विकास किस प्रकार होता है, यह आज का विषय नहीं है। शास्त्र में इस सम्बन्ध में विस्तार-पूर्वक विवेचन किया गया है। बेचारे बकरे को आत्म-बल का भान नहीं है। अतएव वह मरते समय 'बें-बें' करता है और मारा जाता है। अगर उसकी सोई हुई आत्मशक्तियाँ जाग उठें, उसे आत्मबल का भान हो जाय तो किसकी मजाल है जो उसे काट सके!

मित्रो! आप लोग यह न समझें कि आपकी और दूसरों की आत्मा में कोई मौलिक अन्तर है। आत्मा मूल स्वभाव से सर्वत्र एक समान है। जो सच्चिदानन्द आपके घट में है वही घट-घट में व्याप रहा है। इसलिए समस्त प्राणियों को अपनी आत्मा के समान समझो। किसी के साथ वैर-भाव न करो। किसी का गला मत काटो। किसी को धोखा मत दो। दगाबाजी से बाज आओ। अन्याय से बचो। परस्त्री को माता के रूप में देखो।

भाइयो! आप लोग जब मुकदमा लड़ते हैं तो वकील को अपना मुख्तारनामा दे देते हैं, क्योंकि उस पर आप विश्वास करते हैं मगर क्या आप मेरा विश्वास कर जीवन के मुकदमे को सुलझाने के लिए मुझे मुख्तारनामा दे सकते हैं?

(चुप्पा)

क्या आपको मुझ पर विश्वास नहीं है? आप सोचते होंगे—'महाराज कहीं मूंड़ कर हमें बाबा न बना लें!'

मित्रो! ऐसा खयाल मत करो। मैं आपको जबर्दस्ती, आपकी इच्छा के विरुद्ध, चेला नहीं बनाऊँगा। मैं आपको अपना सर्वस्व त्यागने का उपदेश नहीं दे रहा हूँ, अगर आप वह त्याग दें तो

आपके लिए सौभाग्य की बात अवश्य होगी। अभी मैं सिर्फ यह कहता हूँ कि सब के साथ प्रेम करो, समदृष्टि बनो और जिसे हजार-दो हजार रुपये कर्ज दिये हैं, उस पर ब्याज का ब्याज चढ़ाकर हिसाब को तोड़-मरोड़ कर दुगुने-तिगुने मत बनाओ। अन्याय से धनोपार्जन मत करो। हक पर चलो। तुम्हें सच्चिदानन्द की दिव्य झाँकी दिखाई देगी।

हिंडोला चक्कर खाता है। उस पर बैठने वाले को भी चक्कर आने लगते हैं। इतना ही नहीं, हिंडोले से उतर जाने के पश्चात् भी चक्कर आते रहते हैं। इसी प्रकार संसार-चक्र सदा घूमता रहता है। जब आप हट जाएँगे तब कुछ समय तक आपको चक्कर आते रहेंगे। मगर हिंडोले के चक्करों के समान थोड़े समय के बाद आपके चक्करों का अन्त हो जायगा। उकताने की जरूरत नहीं है।

एक आदमी भरे समुद्र को लकड़ी के टुकड़े से उलीच रहा था। किसी ने उससे कहा—'अरे पगले, समुद्र इस प्रकार खाली कैसे होगा ?' तब उसने उत्तर दिया—'भाई, तुम्हें पता नहीं है। इस समुद्र का अन्त है मगर इस—आत्मा—का अन्त नहीं है। कभी न कभी खाली हो ही जायगा।'

मित्रो ! यह दृढ़तर आत्म-विश्वास का उदाहरण है। ऐसे विश्वास से काम करोगे वो सफलता आपकी दासी बन जायगी। विजय आपकी होगी। आधे मन से, ढिलमिल विचार से, किसी कार्य को आरम्भ मत करो। चंचल चित्त से कुछ दिन काम किया और शीघ्र ही फल होता हुआ दिखाई न दिया तो छोड़-छाड़ कर दूर हट गये; यह असफलता का मार्ग है। इससे किया-कराया काम भी मिट्टी में मिल जाता है।

हालैण्ड में एक बादशाह राज्य करता था। उसकी रानी बहुत सुन्दरी थी। रानी के सौन्दर्य पर मोहित होकर दूसरे बादशाह ने, जो हालैण्ड के बादशाह का चचा लगता था—चढ़ाई कर दी। हालैण्ड का बादशाह अर्थात् आक्रमणकारी का भतीजा हार कर भाग गया। विजेता बादशाह राजमहल में गया। उसने अपने भतीजे की पत्नी से कहा—'प्रिये! तू तनिक भी मत घबराना। मैं तेरे सौन्दर्य पर मोहित हूँ। तेरे लिए ही मैंने यह लड़ाई लड़ी है। अब मैं तुम्हारी प्रसन्नता प्राप्त कर सुख-भोग करना चाहता हूँ। तुम्हारा पति हार कर भाग गया है। उसके लिए चिन्ता मत करो। अब मुझे ही अपना पति समझ कर सुख-पूर्वक रहो।'

रानी सती थी। उसने सोचा—'सच्ची-सच्ची बात कहने से इस समय काम नहीं चलेगा।' अपने सतीत्त्व की रक्षा के लिए उसने नीति से काम लेने का निश्चय किया। वह नम्र-भाव से, हँसती हुई कहने लगी—'आपका कथन ठीक है, पर मैं आपसे एक वचन ले लेना चाहती हूँ। वह यह है कि जब तक मैं अपने हाथ से साड़ी बुन कर और उसे पहन कर आपके पास न आऊँ तब तक आप मुझ से दूर रहें। अगर आप यह न मानेंगे और बलात्कार करेंगे तो मैं प्राण त्याग दूंगी।'

प्राण त्याग देने को उद्यत हो जाने पर कौन-सा काम नहीं हो जाता? मनुष्य का परिपूर्ण प्रयास ही तो कठिन से कठिन कार्य में सफलता दिलाता है।

बादशाह ने समझा—'दो-चार दिन में साड़ी तैयार हो जायगी। तब तक बलात्कार करने से क्या लाभ? चिड़िया पींजरे में फँस चुकी है, उड़ कर कहाँ जाएगी?

बादशाह ने वचन दे दिया। रानी ने बुनने के लिए ताना तैयार किया और बुनना आरम्भ कर दिया। पर वह दिन को साड़ी बुनती और रात के समय कुछ न कुछ खराबी निकाल कर दासियों द्वारा एक-एक तार जुदा करवा देती।

बादशाह के नौकर आते और साड़ी कितनी बुनी जा चुकी है, इस बात की खबर बादशाह को देते। बादशाह सोचता-चलो, दो-चार दिन में पूरी हो जायेगी। मगर साड़ी पूरी तैयार नहीं हुई। भला इस प्रकार वह तैयार हो भी कैसे सकती थी? रानी को इस तरह करते-करते छह मास बीत गये। साड़ी फिर भी अधूरी की अधूरी ही रही।

कुछ दिन बाद उसके पति को इस घटना की खबर मिली। उसने सोचा—'मेरी पत्नी अपने सतीत्व की रक्षा करने के लिए कितना कष्ट भोग रही है!' उसके हृदय में अपूर्व उत्साह पैदा हुआ। उसने सेना एकत्र की। अब की बार वह प्राणप्रण से लड़ा और सफलता पाने में समर्थ हुआ। उसे अपनी पत्नी के साथ पुनः होलेण्ड का राज्य मिला!

मित्रो! यह एक ऐतिहासिक कथा है। इस कथा को कहने का मेरा आशय आप न समझे होंगे। इसका आशय यह है कि जैसे रानी दिन को साड़ी बुनती और रात को उसका एक एक तार जुदा कर देती थी, फलतः अन्त तक साड़ी तैयार न हुई, इसी प्रकार आप लोग थोड़ी देर सामायिक करो और उसके बाद फिर असत्य भाषण करो, मायाचार करो, किसी का गला काटो और पराई स्त्री को ताकते फिरो, तो ऐसी दशा में सामायिक कैसे सफल होगी?

आगे- आगे कदम बढ़ाते रहने से लम्बा रास्ता भी कभी न कभी तय हो जाता है, पर पीछे पैर धरने से जहाँ थे, वहीं आजाओगे।

एक शहर में डाके बहुत पड़ते थे। वहां के महाजनों ने सोचा—हमेशा की यह आफ़त बुरी है। चलो सब मिलकर डाकुओं का पीछा करें। उन्हें पकड़ें। सब महाजन तैयार हुए। शस्त्र बाँध कर शाम के समय जंगल की तरफ़ रवाना हुए। रास्ते में विचार किया—डाकू आधी रात को आवेंगे। सारी रात खराब करने से क्या लाभ है? अभी सो जाएँ और समय पर जाग उठेंगे।

सब महाजन पंक्तिवार सो गये। उनमें जो सब से आगे लेटा था, वह सोचने लगा—'मै सब से आगे हूँ। अगर डाकू आए तो पहला नम्बर मेरा होगा। सब से पहले मुझ पर हमला होगा। मैं पहले क्यों मरूँ? डाका तो सभी पर पड़ता है और मैं पहले मरूँ, यह कौन-सी बुद्धिमत्ता है? अच्छा है, मैं उठ कर सब के पीछे चला जाऊं!'

वह सब के अन्त में आकर सो गया। अब तक जिसका दूसरा नम्बर था उसका पहला नम्बर हो गया। उसने भी यही सोचा—'पहले मैं क्यों मरूँ?' और वह उठा और सब के अन्त में सो गया। इसी प्रकार बारी-बारी सब खिसकने लगे। सुबह होते-होते जहाँ थे वहीं वापस आगये।

लड़ाई का काम वीरों का है। वीर पुरुष ही न्याय की प्रतिष्ठा और अन्याय के प्रतीकार के लिए अपने प्राणों की चिन्ता न करके जूझ पड़ते हैं। डरपोक उसमें फतह नहीं पा सकते। जिनके लिए प्राण-रक्षा ही सब कुछ है, जिन्होंने जीवन को ही सर्वोच्च आराध्य मान लिया है, वे अन्याय बर्दाश्त कर सकते हैं, गुलामी को उपहार समझ सकते हैं और अपने अपमान का कड़ुवा घूंट चुप चाप पी सकते हैं। वे महाजन जीवन के गुलाम थे। इसी कारण वे लड़ाई के लिए निकल कर भी ठिकाने पहुँच गये।

मित्रो ! जो कदम आपने आगे रख दिया है उसे पीछे मत हटाओ। तभी आप विजयी होंगे । आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए आपको वीरों में भी वीर बनना पड़ेगा। किसी ने ठीक ही कहा है—

हरिनो मारग छे शूरानो, नहि कायरनो काम जो ने ।

दूसरी लड़ाइयों में तो कदाचित् मौका पड़ने पर ही सिर कटवाना पड़ता है पर हरि को अर्थात् सच्चिदानन्द को प्राप्त करने के लिए पहले ही सिर कटवा कर लड़ना पड़ता है। मगर यहाँ सिर कटवाने का आशय यह नहीं कि जैसे आप पगड़ी उतार कर रख देते हैं वैसे सिर भी धड़ से अलग करना पड़ता है। यहाँ सिर उतारने का अर्थ है, देह के प्रति अहंकार और ममता का त्याग करना। शरीर को खोखा मानना चाहिये और आत्मा को—

> नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः ।
> नैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः ॥
> अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
> नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥
> —गीता अ० २, श्लो० २३—२४

आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, आग जला नहीं सकती, जल गला नहीं सकता और हवा सोख नहीं सकती।

आत्मा कटने योग्य नहीं है, जलने योग्य नहीं है, गलने योग्य नहीं है, सोखने योग्य नहीं है। आत्मा नित्य-अजर अमर है, वह अपनी ज्ञान शक्ति के द्वारा व्यापक है, वह दूसरे द्रव्य रूप में कभी परिणत नहीं होता, मूल स्वभाव से वह अचल है—कभी उसके गुण बदलते नहीं हैं। वह सनातन है।

शूरवीर पुरुष ऐसा सोचते हैं। शरीर को आत्मा समझने वाला और धन का लोभी ऐसा नहीं समझ सकता। कहा है—

बंदा क्या जाने बंदगी माया का गुलाम।
बंदा क्या जाने बंदगी जोरू का गुलाम॥

जिसने माया के प्रति विमुखता धारण कर ली है, जिसने आत्मा को समस्त सांसारिक पदार्थों से निराला समझ लिया है, जो धन का दास नहीं है वही प्रभु की भक्ति कर सकता है। जिसे स्त्री का मोह नहीं है वही भगवद्-भक्ति का आनन्द लूट सकता है।

माया का मालिक होना और बात है और गुलाम होना और बात है। माया का गुलाम माया के लिये झूठ बोल सकता है, कपटाचार कर सकता है, मगर माया का मालिक ऐसा नहीं करेगा। अगर न्याय नीति के अनुसार माया रहे तो वह उसे रक्खेगा, अगर वह अन्याय के साथ रहना चाहेगी तो उसे निकाल बाहर करेगा। यही बात अन्य सांसारिक सुख-सामग्री के सम्बन्ध में समझनी चाहिए।

मित्रो! इस कसौटी पर अपने आपको कस देखो कि आप माया के मालिक हैं या गुलाम हैं?

दर्पण आपके हाथ में हैं। अपना-अपना मुंह देख कर लगी हुई कालिख पोंछ डालिए।

जिसने स्त्रियों की गुलामी की उसको क्या गत हुई? रावण की ओर देखिए। उसने मन्दोदरी की मालिकी छोड़कर सीता का गुलाम बनना चाहा तो उसका सर्वनाश हो गया।

मित्रो ! माया के और स्त्री के गुलाम मत बनो, मालिक बनो। उसे अपने जीवन पर मत लदने दो। उसे अपना बोझ मत बनाओ। सच्चिदानन्द को प्राप्त करो। यही सब धर्मों का सार है। ऐसा करने पर आपको किसी प्रकार का कष्ट न रहेगा। आपको सर्वत्र कल्याण ही कल्याण दृष्टिगोचर होगा।

भीनासर
१४—८—२७
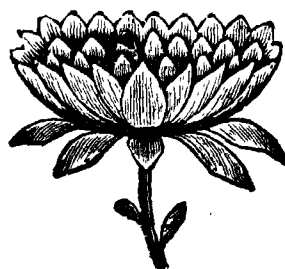
सच्चिदानन्द

प्रार्थना

श्रीजिन अजित नमूं जयकारी, तू देवन को देवजी।
'जितशत्रु' राजा ने 'विजया' राणी को, आतमजात त्वमेवजी ॥
श्रीजिन अजित नमो जयकारी ॥ श्री० ॥

प्रत्येक प्राणी सुख की तलाश में है। दुःख किसी को प्रिय नहीं लगता। सभी दुःख से बचना चाहते हैं। प्रत्येक प्राणी सुख के लिए सदा संघर्ष करता रहता है। सुख प्राप्त करने के लिए मनुष्य ने बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ लड़ी, पर सुख नहीं मिला। अगर कभी किसी को सुख मिला भी तो क्षण भर के लिए। फिर उसी सुख में से दुःख

फूट पड़ा। जिस सुख में से दु:ख फूट निकलता है उसे सुख न कह कर अगर दु:ख का बीज कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी।

आज साइंस-विज्ञान की उन्नति की दौड़ हो रही है। उसका उद्देश्य क्या है? सुख की खोज। जब तक सच्चा और स्थायी सुख न मिल जाय तब तक सुख की खोज जारी ही रहेगी। यह खोज सुख तक पहुँच सकेगी या नहीं, और यदि पहुँची तो कब तक, यह तो नहीं कहा जा सकता, पर इसमें दिन प्रति दिन जो उत्साह दिखाया जा रहा है उसे देख कर यही कहना पड़ता है कि यह एकाएक थकने वाली नहीं है।

साइंस किस सुख को असली सुख मानेगा? इसकी गति भलाई की ओर हो रही है या बुराई की ओर? इस संबंध में कुछ टीका-टिप्पणी न करके साइंस के चकाचौंध मे चकित होने वालों से कुछ कहना उचित प्रतीत होता है।

कुछ भाई साइंस द्वारा आविष्कृत एंजिन को देख कर अत्यन्त आश्चर्य करते हैं। मैं इन भाइयों से प्रश्न करता हूँ कि एंजिन आश्चर्य-जनक है या एंजिन का आविष्कर्त्ता?

'एंजिन का आविष्कर्त्ता!'

आविष्कर्त्ता आश्चर्यजनक क्यों है? इसीलिए कि उसके भीतर ऐसे-ऐसे अद्भुत कल-पुर्जे हैं कि उसने एंजिन का निर्माण कर दिखाया है। अगर एंजिनियर में ऐसी शक्ति न होती तो एंजिन का निर्माण नहीं हो सकता था।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि एंजिनियर के भीतर ऐसा कौन सा एंजिनियर बैठा है जो ऐसे—ऐसे और इससे भी—बढ़कर

आश्चर्य में डालने वाले अद्भुत काम कर डालता है ? उत्तर मिलेगा-ऐंजिनियर के भीतर जो ऐंजिनियर है उस का नाम है—आत्मा। यह आत्मा सिर्फ ऐंजिनियर के अन्दर ही नहीं, वरन् तमाम छोटे-बड़े प्राणियों में मौजूद है।

इस आत्मा में जबर्दस्त शक्ति है। वह संसार को उथल-पुथल कर सकती है। जिस साइंस ने आज संसार को कुछ का कुछ बना दिया है उसके मूल में आत्मा की ही शक्ति है। आत्मा न हो तो साइंस का काम एक क्षण भी नहीं चल सकता क्यों कि वह स्वयं जड़ है।

जड़ साइंस के चकाचौंध में पड़ कर साइंस के निर्माता-आत्मा को नहीं भूल जाना चाहिए। अगर तुम साइंस के प्रति जिज्ञासा रखते हो तो साइंस के निर्माता के प्रति भी अधिक नहीं तो उतनी ही जिज्ञासा अवश्य रक्खो। साइंस को पहचानना चाहते तो आत्मा को भी पहचानने का प्रयत्न करो

आत्मा की पहिचान कैसे को जाय ? लक्षणों से। आत्मा का लक्षण क्या है ? शास्त्र बतलाता है—सत्, चित् और आनन्द।

सत्. चित्, आनन्द किसे कहते हैं ? सत् का मत लब क्या है ? चित् किसे कहते हैं ? और आनन्द का अर्थ क्या है ? इसका उत्तर सुनिये—

प्रश्न—सत् किम् ?

उत्तर—कालत्रयेऽपि तिष्ठतीति आत्मा सत्।

प्रश्न—चित् किम् ?

उत्तर—साधनान्तरनैरपेक्ष्येण स्वयं प्रकाशमानतया पदार्थावभासनमस्तीति आत्मा चित्।

प्रश्न—आनन्दः कः ?

उत्तर—देश-काल-वस्तुपरिच्छेदशून्यः आत्मा—आनन्दः। इत्यात्मनः सच्चिदानन्दरूपत्वम्।

जो भाई संस्कृत-भाषा जानते हैं वे सच्चिदानन्द की व्याख्या समझ गये होंगे। जो संस्कृत नहीं जानते उन्हें जरा विस्तार के साथ कहने से सच्चिदानन्द का रहस्य मालूम हो जायगा।

संस्कृत में सत् का जो अर्थ किया गया है उसका आशय यह है कि तीनों कालों में जिसका नाश न हो, जिसे जिस समय देखें उसका वही रूप सदा नजर आवे उसे सत् या सत्य समझना चाहिए। जो एक क्षण दिखाई दे और दूसरे क्षण न दिखाई दे वह 'सत्' नहीं है।

शास्त्र ने आत्मा का एक लक्षण सत् बतलाया है। आत्मा अपने शरीर के अन्दर है। कोई यह प्रश्न उठा सकता है कि आपने कहा है 'जिसे जिस समय देखें तब तब उसका वही रूप नजर आवे उसे सत् समझना चाहिए।' मगर यह लक्षण आत्मा में नहीं पाया जाता। मैं पहले बच्चा था, बाद में युवक बना और अब वृद्ध हूँ। इस प्रकार तीन अवस्थाएँ कैसे बदल गईं ?

इसका उत्तर यह है कि यहाँ बाल, युवा, वृद्ध अवस्थाओं का जो परिवर्त्तन दिखाई देता है वह शरीर की अवस्थाएँ हैं—आत्मा की नहीं। आत्मा में न तो कभी परिवर्त्तन होता है, न कभी होगा। यदि इसमें आपको कुछ शंका हो तो आपके शंका के शब्द ही आपकी शंका का समाधान कर देंगे।

यह किस प्रकार ? इसे समझ लीजिए। आप कहते हैं—'मैं पहले बच्चा था, मैं युवक बना, मैं वृद्ध हूँ।' यहाँ जिसे आप 'मैं', कहते हैं वह 'मैं' कौन है ? आपके 'मैं' को सब पता है। वह भलीभाँति जानता है कि जो 'मैं' बच्चा था, वही 'मैं' युवक हुआ और वही अन्त में वृद्ध हुआ है। अगर आपके खयाल के अनुसार वह बदलता रहा होता तो उसे इस बदलने की बात की खबर न होती। इससे साफ जाहिर है कि 'मैं' बदला नहीं, वरन् उसने तीनों अवस्थाओं में मौजूद रह कर बदलना देखा है। इसलिए जो स्वयं बदलता नहीं है परन्तु शरीर के बदलने का अनुभव करता है वही 'मैं' आत्मा है। इस प्रकार उसमें बदला न होने से वह 'सत्' है।

कभी मैंने बतलाया था कि पृथ्वी के कणों में परिवर्त्तन होता रहता है, जल के बिन्दुओं का रूपान्तर हो जाता है, इसी प्रकार दूसरी वस्तुओं का भी बदला होता रहता है, पर आत्मा का न कभी बदला हुआ है, न होता है और न होगा। जो सत् है वह सत् ही रहेगा। सत् असत् नहीं हो सकता और असत् सत् नहीं हो सकता। गीता ने भी इस सिद्धान्त की पुष्टि की है—

नासतो विद्यते भावो, नाभावो जायते सतः ।

अर्थात् जो पदार्थ असत् है—जिसमें 'नहीं है' ऐसी प्रतीति होती है वह सत् नहीं हो सकता, और जो पदार्थ सत् है वह सत् ही रहेगा। वह सत् से असत् कभी नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए, इस पट्टी को लीजिए। मेरे हाथ में लकड़ी को जो पट्टी है, यह पहले किसी वृक्ष का अंग थी। वृक्ष से भी पहले वह किन्हीं परमाणुओं के रूप में थी। समय आने पर फिर कभी परमाणुओं में बदल जायगी। इस पट्टी पर्याय का बदलना पट्टी का असत् रूप प्रकट कर रहा है। पट्टी अपने वर्त्तमान रूप में सत् नहीं है।

पानी क्या चीज़ है ? आक्सिजन और हाइड्रोजन नामक हवाओं की मिलावट। जब यह हवाएँ बिखर जाएँगी तब पानी का अस्तित्व नज़र नहीं आयगा। इस प्रकार किसी वस्तु का एक रूप से दूसरे रूप में पलट जाना ही नास्तित्व कहलाता है।

आगे और थोड़ा-सा विचार करें। एक वैज्ञानिक ने मुझे बतलाया था कि अमेरिका में एक ऐसा मकान तैय्यार किया गया है जिसके भीतर चार यंत्र रक्खे हुए हैं। यह चारों यंत्र चार प्रकार की हवाओं में से एक-एक प्रकार की हवा अपने भीतर भर लेते हैं। इसके बाद वैज्ञानिक एक यंत्र में से हवा छोड़ता है और वह हवा मकान में फैल जाती है। फिर दूसरी हवा को यंत्र से बाहर निकालता है और वह भी मकान में फैल जाती है। यह दोनों हवाएँ मिलकर बादल के रूप में परिणत हो जाती हैं। वैज्ञानिक जब तीसरे प्रकार की हवा छोड़ता है तो बादलों में बिजली चमकने लगती है। फिर चौथे प्रकार की हवा छोड़ने पर पानी बरसने लगता है।

इससे यही आशय निकला कि भिन्न-भिन्न वस्तुओं की मिलावट से एक अनोखी वस्तु तैय्यार हो जाती है। और जब वे वस्तुएँ अलग हो जाती हैं तब उनके द्वारा बनी हुई वस्तु बिखर जाती है। जो बन कर बिखर जाती है वह असत् कहलाती है।

वैज्ञानिकों ने बादल बनाकर पानी की वर्षा कर दी पर वे दुनिया को किसी प्रकार का विशेष लाभ नहीं पहुँचा सके क्योंकि ऐसा करने में खर्च अधिक और लाभ कम होता है। प्रकृति की हमारे ऊपर कितनी करुणा है कि वह अधिक खर्च से बनने वाली वस्तु हमें मुफ़्त में देती है।

अब यह विचार करना चाहिए कि प्रकृति की क्षणभंगुर वस्तुओं

में जब इतनी शक्ति है तब सौ वर्ष तक मनुष्य के शरीर में एक रूप में रहने वाली आत्मा में कितनी शक्ति होनी चाहिए ? भाइयो, आत्मा की शक्ति अनोखी है। वैज्ञानिकों ने कहा है—आटलांटिक महासागर को हटा कर यदि आफ्रिका के रेगिस्तान में फैंक दिया जाय तो इसके नीचे से ऐसी उत्तम भूमि निकले कि उसका वर्णन ही नहीं हो सकता। यह शब्द किसने निकाले हैं ? आत्मा ने ! आटलांटिक सागर कोई छोटा सा समुद्र नहीं है। वह संसार के सागरों में एक बड़ा भारी सागर है। आत्मा उसे भी उठा कर फैंक सकती है। ऐसी अद्‌भुत और असीम आत्मा की शक्ति है।

यहाँ यह आशंका की जा सकती है कि, किसी पदार्थ का रूपान्तर हो जाता है पर उसके परमाणुओं का नाश नही होता, यह आपने पहले कहा है और साथ ही यह भी कहते हैं कि सत होने के कारण आत्मा का नाश नहीं होता। इस प्रकार नाश तो किसी भी वस्तु का नहीं होता फिर आत्मा को सत् और जड़ पदार्थ को असत् कहने का क्या प्रयोजन है ?

इस आशंका का सरल समाधान यह है कि परमाणुओं द्वारा किसी वस्तु का बनना और बिखरना अर्थात् परमाणुओं का मिलना और जुदा हो जाना ही नाश कहलाता है। जिस वस्तु के परमाणु मिलते और बिखरते हैं वह नाशवान् कहलाती है। आत्मा ऐसी वस्तु नहीं है। न तो उसके प्रदेश—अंशविशेष—कभी मिलते हैं और न बिखरते हैं। वह सदा-सर्वदा जैसी है वैसी ही रहती है। इसी भेद के कारण जड़ को असत् और आत्मा को सत् कहा गया है। कल्पना कीजिए, किसी ने बकरे की गर्दन पर छुरी चलाई। उसका सिर धड़ से अलग हो गया। पर उसके अन्दर रही हुई आत्मा के टुकड़े नहीं

हुए। वह ज्ञानघन आत्मा सूक्ष्म रूप में ज्यों की त्यों है। यह आत्मा का सत्पना है।

सत् का अर्थ व्यापक है। द्रव्य रूप से पुद्गल आदि पदार्थ भी सत् हैं अतएव उनको जुदा करके समझने के लिए आत्मा का दूसरा रूप 'चित्' है। 'चित्' के द्वारा आत्मा के असाधारण रूप का पता लगता है। जो स्वयं प्रकाशमान है, जिसे प्रकाशित करने के लिए किसी और की सहायता अपेक्षित नहीं है उसे 'चित्' कहा गया है। शास्त्र का कथन है कि आत्मा सूर्य से भी अधिक प्रकाशमान है। आत्मा सूर्य को देख सकता है पर सूर्य आत्मा को नहीं देख सकता। इस बात को प्रकाशित करने वाला भी आत्मा स्वयं ही है। साधना के द्वारा विकास को प्राप्त करने वाला आत्मा इस रहस्य का उद्घाटन करता है। एक व्यक्ति दीपक लेकर अन्धकार से व्याप्त कमरे में प्रवेश करता है। वह वहाँ की समस्त दृश्य वस्तुओं को देखता है और साथ ही दीपक को भी देखता है। वह दीपक उसको नहीं देखता, क्योंकि दीपक जड़ है। हम सूर्य को नेत्रों द्वारा देखते हैं, पर वास्तव में देखने की शक्ति नेत्रों की नहीं, आत्मा की है। नेत्र केवल कारण होते हैं। दर्शन-क्रिया का कर्त्ता तो आत्मा ही है। आत्मा न होता तो सूर्य के दर्शन न होते।

अब आत्मा के तीसरे रूप 'आनन्द' को लीजिए। 'आनन्द' से भी आत्मा का पता चलता है। आनन्द किसे कहते हैं ? जिसमें देश, काल और वस्तु से बाधा न पड़ती हो और जो अनुकूल संवेदन रूप होता है उसे आनन्द कहते हैं। यों तो साधारणतया इन्द्रियों से आनन्द का पता लगता है परन्तु पूर्ण आनन्द इन्द्रियों से परे है।

एक आदमी ने मिठाई खाई। वह कहता है—बड़ा आन्द आया। पर शास्त्र कहता है—'आनन्द मिठाई खाने में नहीं है।' आप कह

सकते हैं कि अगर मिठाई खाने में आनन्द नहीं है तो लोग खाते क्यों हैं ? रोग आदि हानि की परवाह न करके, पैसे खर्च करके लोग मिठाई खाते हैं और आप कहते हैं—'आनन्द मिठाई खाने में नहीं है।' इसका संक्षेप में उत्तर यह है कि अगर मिठाई आनन्द रूप हो तो मुर्दे के मुंह में मिठाई डालिए, क्या उसे आनन्द आयगा ? नहीं। इसीसे कहते हैं कि आनन्द मिठाई में नहीं, पर मिठाई से परे है।

अच्छा, मुर्दे को जाने दीजिए। कोई जीवित पुरुष भरपेट मिठाई खा चुके, तब उसके सामने पाँच-दस सेर मिठाई रख कर, लट्ठ तान कर सामने बैठ कर कोई उसे खाने के लिए बाध्य करे ता खाने वाले को वह मिठाई आनन्द देगी ? नहीं। उस समय मिठाई जहर से भी बुरी मालूम होगी। अगर मिठाई में आनन्द है तो वह हर समय एक सा आनन्द क्यों नहीं देती ? इससे प्रकट है कि आनन्द मिठाई में नहीं है। वह कहीं दूसरी जगह है।

इसके अतिरिक्त एक आदमी के लिए जो मिठाई रुचिकर होती है वह दूसरे के लिए अरुचिकर होती है। जो वस्तु एक को आनन्द दे और दूसरे को दुःख पहुँचाए, उसे आनन्द की वस्तु कैसे कहा जा सकता है ?

असली आनन्द आत्मा का गुण है। वह तुम्हारे पाप-कर्मों से ढँक गया है। तुम अपने पाप-कर्मों को हटा दो, फिर जान सकोगे कि असली आनन्द क्या है ?

आजकल एक शक्कर निकलती है जिसे सेक्रीन कहते हैं। यह सेक्रीन साधारण शक्कर से ५०० गुनी मीठी होती है। सुना जाता है कि एक वैज्ञानिक अपना प्रयोग कर रहे थे। जब भोजन का समय हुआ तब भोजन करने गये। काम अधूरा ही पड़ा था। उन्होंने रोटी

हाथ में ली और खाने लगे। उन्हें रोटी बहुत मीठी लगी। नौकर से पूछा—आज रोटी मीठी बनाई गई है? नोकर ने कहा—'नहीं, मालिक, हमेशा जैसी रोटी है।' वैज्ञानिक ने हाथ धो डाले और फिर रोटी खाने बैठे। रोटी फिर भी मीठी ही लगती रही। वह फिर उठे। हाथ धोये। फिर उँगलियाँ चाटी तो उनमें मिठास मालूम हुआ। उन्होंने सोचा—प्रयोग के कारण ही हाथों में मिठास आया जान पड़ता है। वह उठे और सीधे प्रयोगशाला में पहुँचे। प्रयोग की हुई वस्तु चखी तो वह बहुत मीठी मालूम हुई। उस समय वह साधारण शक्कर से ३०० गुनी मीठी थी। बाद में ५०० गुनी मीठी की गई।

जिन पदार्थों में से सेक्रीन निकली वह और कुछ नहीं, केवल डामर वगैरह थे। इस कूड़े—कचरे में से भी जब इस प्रकार का मिठास निकल सकता है तब, जिस आत्मा में अनन्त और असीम मिठास है, उसकी शोध—साधना—क्यों नहीं करते ?

मित्रो! आत्मा का विचार बड़ा लम्बा है। आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ है। इसलिए स्थूल विचार में वह आता नहीं है। उसे अनुभव करने के लिए उत्कृष्ट साधना की आवश्यकता है। आत्मा के विषय में विस्तृत चर्चा फिर कभी की जायगी? आज सच्चिदानन्द का सामान्य स्वरूप समझ कर अगर मनन करेंगे तो आपको अपूर्व आनन्द का अनुभव होगा। रत्न को पहचान कर उसके लिए पैसा खर्चने में कोई आलस्य नहीं करता। अगर आप आत्मा को 'सच्चिदानन्द' मानते हो तो अपने तुच्छ सुख रूपी पैसों के बदले में 'सच्चिदानन्द' रूप को उपलब्ध करने में आलस्य मत करो।

भीनासर }
१५—८—२७ }

सच्चे सुख का मार्ग

प्रार्थना

'अश्वसेन' नृप कुल तिलोरे, 'वामां' देवीनो नन्द ।
चिन्तामणि चित्त में बसेरे, दूर टले दुख द्वंद ।।
जीव रे ! तू पार्श्व जिनेश्वर वंद ।। जीव० ।।

कर्त्ता कौन है ? इस प्रश्न का उत्तर अनेक विचारकों ने भिन्न-भिन्न रूप से दिया है। व्याकरण शास्त्र का विधान है—'स्वतन्त्रः कर्त्ता' अर्थात् जो स्वतंत्र है, जिसे दूसरा कोई प्रेरित नहीं करता वरन् जो स्वयं साधनों का प्रयोग करता है, वही कर्त्ता है। व्याकरण शास्त्र का यह समाधान सामान्य अतएव अधूरा है। कर्त्ता स्वतंत्र है, यह

जान लेनेपर भी तृप्ति नहीं होती। प्रश्न फिर भी बना रहता है कि ऐसा कौन है जो स्वतन्त्र है ?

कोई 'स्वभाव' को कर्त्ता मानता है। उसके मत से विश्व की रचना स्वभाव से हुई है। मगर विचार करने पर इस समाधान में भी पूर्णता प्रतीत नहीं होती। स्वभाव किसी स्वभाववान् का होता है। बिना गुणी के गुण का अस्तित्व नहीं हो सकता। स्वभाव अगर कर्त्ता है तो स्वभावी या स्वभाववान कौन है ? इस प्रकार की जिज्ञासा फिर भी रह जाती है, जिसका समाधान स्वभाववाद से नहीं हो सकता।

स्वभाव को कर्त्ता मान लिया जाय और स्वभाववान् को न माना जाय, यह ऐसी मान्यता है जैसे दृश्य को स्वीकार करके भी द्रष्टा को स्वीकार न करना। मान लीजिए, एक आदमी दीपक लेकर अँधेरे मकान में जाए। वहाँ वह दीपक को देखे और दीपक द्वारा अन्य वस्तुओं को भी देखे। फिर भी वह कहे कि देखने वाला कोई भी नहीं है! ऐसा कहने वाले व्यक्ति को आप क्या कहेंगे ? क्या देखने वाले का अभाव बताने वाला व्यक्ति स्वयं ही देखने वाला नहीं है ? इस स्थिति में यही कहा जायगा कि देखने वाला अज्ञान के कारण स्वयं अपने अस्तित्व का निषेध कर रहा है।

प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में तीन चीजों की आवश्यकता होती है। कर्त्ता, कर्म और करण। इन तीन के बिना कोई वस्तु नहीं बनती। उदाहरण के लिए घड़ा लीजिए। घड़ा बनाने वाला कुंभार कर्त्ता है, घड़ा कर्म है और मिट्टी, दंड, चक्र, सूत आदि जिन साधनों से घड़ा बनाया जाता है वे सब साधन करण हैं। इन तीन के बिना घड़ा नहीं बन सकता।

कर्तृत्व का प्रश्न बड़ा जटिल है। खास कर जब सृष्टि और उसके कर्त्ता का प्रश्न उपस्थित होता है तब इस प्रश्न की जटिलता

और बढ़ जाती है। हमारे कई भाई समझते हैं कि सृष्टि का कर्त्ता कोई है ही नहीं। अगर सचमुच सृष्टि का कोई कर्त्ता नहीं है तो सृष्टि बनी कैसे ?

ईश्वर कर्त्ता है, यह मान्यता भी जगत् में प्रचलित है। मगर उसके संबंध में एक बार स्पष्टीकरण किया जा चुका है। अशरीर ईश्वर कुम्भार की तरह जगत् के निर्माण में लगा रहता है और वह पर्वत, नदियाँ, समुद्र, रेगिस्तान आदि बनाता है, यह कल्पना ही समझ में नहीं आती। तब कर्त्ता कौन है ?

इस प्रश्न पर अगर बारीकी से, निष्पक्ष होकर विचार किया जाय तो विदित होगा कि कर्त्ता आत्मा है। शास्त्र में कहा गया है—

'अप्पा कत्ता विकत्ता य।'

अर्थात् आत्मा—ही कर्त्ता है और आत्मा ही हर्त्ता है।

आत्मा के विना अकेले परमाणुओं की क्या ताकत है कि वे ऐसा रूप धारण कर सकें ?

जो घड़ी आप कलाई पर बाँधे हैं या जो दीवाल पर लटकी हुई है, वह क्या अपने आप ही बनने में समर्थ है ? भले ही इसके बनाने वाले करीगर को आपने बनाते नहीं देखा पर वह स्वयं अपने बनाने वाले का स्मरण करा रही है। इस प्रकार घड़ी को देख कर सभी लोग घड़ी बनाने वाले का अनुमान करते हैं, पर शरीर रूपी घड़ी को देख कर उसके बनाने वाले का अनुमान, या ध्यान करने वाले कितने हैं ? शरीर रूपी यह घड़ी किस अद्भुत कारीगर के कौशल का चमत्कार प्रदर्शित कर रही है ? इसके भीतर विविध प्रकार की विस्मय जनक जो शक्तियाँ विद्यमान हैं, उनका केन्द्र कौन है ? आँख के द्वारा देखा

जाता है, नाक से सूँघा जाता है, कान से शब्द सुनाई देता है, जिह्वा से रस का आस्वादन किया जाता है, इसी प्रकार अन्य अवयव अपना-अपना काम करते हैं, मगर इन सबको कार्य में प्रेरित करने वाला, आँख को देखने की शक्ति देने वाला, कान को सुनने की शक्ति देने वाला कौन है ? किसकी शक्ति से यह सब करण परिचालित होते हैं ? इसका उत्तर है—आत्मा की शक्ति से। आत्मा ही इन सब इन्द्रियों का संचालन करता है। आत्मा की शक्ति से ही इन्द्रियाँ अपने—अपने विषय को जानती हैं। इसी का अर्थ है-'अप्पा कत्ता।'

आप दृश्य को देखते हैं और देखते देखते इतने अभ्यस्त हो गये हैं कि आपको अपना-आपा (आत्मा)—जो दृष्टा है—दिखाई नहीं देता।

आप मेरे दर्शन करने आये हैं, मगर मुझे तो ऐसा लगता है जैसे आप मेरे हाथ, पैर और मस्तक को देखने आये हों। कई भाई कहते हैं—आपके दर्शन किये बिना चित्त शान्त नहीं होता। पर याद रखिए, मेरे दर्शन से तो क्या, साक्षात अरिहन्त भगवान् के दर्शन से भी कुछ होना-जाना नहीं है। क्योंकि आप हमें देख करके भी दृष्टा को भूल गये हैं। दृश्य को देख कर दृष्टा को भूल जाना बड़ी भारी भूल है। क्या आप बतलाएँगे कि आपकी उँगली की हीरे की अंगूठी अधिक मूल्यवान् है या आप ? आप अधिक मूल्यवान् हैं क्योंकि अंगूठी दृश्य है और आप दृष्टा हैं। दृष्टा न होगा तो दृश्य कैसे हो सकेगा ?

बहिनो ! तुम्हें जितनी चिन्ता अपने गहनों की है उतनी इन गहनों का आनन्द उठाने वाली आत्मा की है ? तुम्हें गहनों का जितना ध्यान रहता है, कम से कम उतना ध्यान अपनी आत्मा का

रहता है ? आभूषणों को ठेस न लगने के लिए जितनी सावधान रहती हो उतनी आत्मधर्म को ठेस न लगने देने के लिए सावधान रहती हो ?

जगत् में जितने पदार्थ आँखों से दिखाई देते हैं वे सब दृश्य हैं, नाशवान् हैं और जो इन्हें देख रहा है वह दृष्टा है, अविनाशी है। दृश्य खेल हैं और दृष्टा खेलाने वाला है। जिसकी ऐसी श्रद्धा है वह 'आस्तिक' कहलाता है। जो दृष्टा को अविनाशी रूप में नहीं मानता वह 'नास्तिक' है।

जिसने दृष्टा को देख लिया है, पहचान लिया है वह दृश्य को सन्मान मिलने पर अपना सन्मान और अपमान मिलने पर अपना अपमान मानने के भ्रम में नहीं पड़ता। आज दृश्य के पीछे पड़ी हुई दुनिया उसके लिए अपनी सारी शक्ति खर्च रही है। फिर भी सुखकी परछाई तक दिखाई नहीं देती।

जो मनुष्य घड़ी को देख कर उसके कारीगर को नहीं पहचानता वह मूर्ख गिना जाता है। इसी प्रकार जो शरीर को धारण करके इसमें विराजमान को नहीं पहचानता और न पहचानने का प्रयत्न करता है उसकी समस्त विद्या-अविद्या है। इसके सब काम खटपट, रूप हैं !

अज्ञान पुरुष को जिन पदार्थों के वियोग से मर्मवेधी पीड़ा पहुँचती है, ज्ञानी जन को उनका वियोग साधारण-सी घटना प्रतीत होती है। ज्ञानवान् पुरुष संयोग को वियोग का पूर्व रूप मानता है। अतएव वह संयोग के समय हर्ष-विभोर नहीं होता और वियोग के समय विषाद से मलीन नहीं होता। दोनों अवस्थाओं में वह मध्यस्थ भाव रखता है। सुख की कुंजी उसे हाथ लग गई है इसलिए दुःख उससे दूर ही दूर रहते हैं।

घड़ी के किसी पुर्जे के नष्ट हो जाने पर साधारण मनुष्य को दुःख का अनुभव होता है पर घड़ीसाज को कुछ भी दुःख नहीं होता। वह जानता है, पुर्जा टूट गया—नष्ट हो गया तो क्या हुआ। फिर बना लूँगा। कभी-कभी घड़ीसाज अपनी इच्छा से घड़ी का पुर्जा-पुर्जा अलग कर देता है और फिर उन्हें नये सिरे से जोड़ कर, नवीन ज्ञान प्राप्त करके आनन्द का अनुभव करता है।

शरीर क्षेत्र है, आत्मा क्षेत्रज्ञ है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का अन्तर गीता में भी प्रतिपादन किया गया है। उसे इस समय विस्तारपूर्वक समझाना कठिन है।

मित्रो! आपको भोजन न मिलने से अधिक दुःख होता है या अपमान मिलने से?

'अपमान से?'

क्यों? इसलिए कि भोजन थोड़े परिश्रम से मिल सकता है परन्तु प्रतिष्ठा—मान—के लिए बहुत-सी झंझटें उठानी पड़ती हैं? प्रतिष्ठा के लिए दुनिया न मालूम कितने यत्न करती है। भारी खर्च किये जाते हैं, लोकदिखावा किया जाता है; आकाश-पाताल एक किया जाता है। किन्तु अन्त में परिणाम क्या आता है? असली सुख के बदले महान् और घोर दुःख भुगतने पड़ते हैं। आज नब्बे प्रतिशत दुःख अज्ञान के कारण और दस प्रतिशत व्यावहारिक कामों से हो रहा है।

मैं अभी मोहर लुटाने लगूँ, भोजन का निमंत्रण दूं और अच्छे-अच्छे वस्त्र वितीर्ण करूँ तो कितने मनुष्य इकट्ठे होंगे?

'बहुत से !'

अगर तत्त्वज्ञान सुनाऊँ तो ?

'बहुत थोड़े !'

ऐसा क्यों ? इसीलिए कि लोग अभी उन्हीं पदार्थों में सुख मान रहे हैं। तत्त्वज्ञान सुनना तो उन्हें झंझट मालूम होता है। पर यह स्मरण रक्खो कि सुख धन में नहीं है। गौर से देखो तो पता चलेगा कि धनी लोग अधिक दुखी हैं। अनेक धनिकों की आँखें गहरी घुसी हुई, गाल पिचके हुए और चेहरे पर विषाद एवं उदासीनता नजर आएगी। पर मस्त गरीब की स्थिति इससे उल्टी होगी। १०-५ धनवान् महाजन कड़े-कंठी पहन कर जंगल में जावें और सामने, कंधे पर लाठी लिये एक जाट को देखें तो ?

'सब भाग खड़े होंगे !'

बस, आखिर कड़े.कंठी को लजाया न ! इसीलिए कहना पड़ता है कि असली सुख चांदी-सोने में नहीं है।

एक मनुष्य एक पैर से लकड़ी के सहारे चलता हो और दूसरा स्वतंत्रता के साथ बिना सहारे चलता हो तो आपकी निगाह में कौन अच्छा जँचेगा ?

'बिना सहारे चलनेवाला !'

ठीक है, क्योंकि स्वतंत्रता में जितना सुख है, परतंत्रता में नहीं है। लोग बग्घियों और मोटरों पर चढ़कर अपने सुख और ऐश्वर्य का प्रदर्शन करते हैं पर वास्तव में वह सुख, सुख नहीं है। गाड़ियाँ परतंत्रता में डालने वाली बेड़ियाँ हैं।

जिन ढोंगों के कारण मानव-शक्ति का ह्रास होता है, जिनकी बदौलत क्लेशों की वृद्धि होती है, उनके पंजे से मनुष्यों को छुड़ाना साधु का परम कर्त्तव्य है।

संसार में तीन प्रकार के दुःख हैं—(१) आधिभौतिक (२) आधिदैविक और (३) आध्यात्मिक। भूख लगने पर रोटी की इच्छा होना, प्यास लगने पर जल की वांछा करना और सर्दी-गर्मी से बचने के लिए कपड़े—लत्ते की आकांक्षा होना आधिभौतिक दुःख कहलाता है। आधिभौतिक दुःख को दूर करने के लिए शरीर के भीतर जो हलचल होती है, शोक करना पड़ता है, चिन्ता करनी पड़ती है, वह आध्यात्मिक दुःख कहा गया है।

दुख का मूल कारण तृष्णा है। चिउंटी से लगा कर चक्रवर्त्ती पर्यन्त सभी जीव तृष्णा के पीछे-पीछे दौड़ लगा रहे हैं। खेद की बात यह है कि उस दौड़ का कहीं अन्त नहीं है, कहीं विराम नहीं है। तृष्णा की मंजिल कभी तय नहीं हो पाती। उसका तय होना संभव भी नहीं है, क्योंकि लक्ष्य स्थिर नहीं है। पहले निश्चित किये हुए लक्ष्य पर पहुँचने को हुए कि लक्ष्य बदल कर और आगे बढ़ जाता है। इस प्रकार संसार में दौड़-धूप मची रहती है। मनुष्य पहले विवाह करके सुख की आकांक्षा करता है—विवाह कर लेना उसका लक्ष्य होता है। परन्तु विवाह होते ही सन्तान की अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है। कदाचित् सन्तान हो गई तब भी तृष्णा का अन्त कहाँ? वह और आगे बढ़ती है—सन्तान के विवाह की इच्छा पैदा करती है। इसके बाद मनुष्य को पौत्र चाहिए, प्रपौत्र चाहिए, और न जाने क्या-क्या चाहिए। इस 'चाहिए' के चंगुल में फंस कर मनुष्य बेतहाशा भाग-दौड़ लगा रहा है। कभी किसी क्षण शान्ति नहीं, संतोष नहीं और निराकुलता नहीं। भला इस दौड़-धूप में सुख कैसे मिल

सकता है ? यही संसार की व्याकुलता का कारण है। इसी तृष्णा से दुःख शोक और संताप की उत्पत्ति होती है।

ज्ञानी जन तृष्णा के पीछे नहीं दौड़ते। उन्होंने समझ लिया है कि अगर कोई अपनी परछाई पकड़ सकता है तो तृष्णा की पूर्त्ति कर सकता है। मगर अपनी परछाई के पीछे कोई कितना ही दौड़े, वह आगे आगे दौड़ती रहेगी, पकड़ में नहीं आ सकेगी। इसी प्रकार तृष्णा की पूर्त्ति के लिए कोई कितना ही उपाय करे मगर वह पूरी नहीं होगी। ज्यों-ज्यों परछाई के पीछे दौड़ने का प्रयत्न किया जाता है, त्यों-ज्यों वह आगे बढ़ती जाती। मगर मनुष्य जब उससे विमुख हो जाता है, तब वह लौट कर उसका पीछा करने लगती है। इस प्रकार परछाई के पीछे दौड़ कर अपनी शक्ति का नाश करना व्यर्थ है और तृष्णा की पूर्त्ति करने के लिए मुसीबत उठाना भी वृथा है।

ज्ञानी पुरुष जानते हैं कि मुझे जो कुछ प्राप्त है वह भी मेरा नहीं त तो दूसरी वस्तु की आकांक्षा क्यों करूँ ? ज्ञानवान् पुरुष अज्ञानियों की तरह चिन्ता में घुल-घुल नहीं मरते। ज्ञानी जानते है कि मेरा विवाह हुआ है पर मेरी स्त्री मुझ से भिन्न रही है, मैं इस के नष्ट होने पर चिन्ता नहीं करता और प्राप्त होने पर खुशी भी नहीं मनाता। ज्ञान अपने शरीर पर शासन कर सकता है।

यहाँ बैठे हुए कई भाइयों के बाल सफ़ेद हो गये हैं। वे उन्हें काले नहीं कर सकते। काला करना उनके हाथ की बात नहीं है। यह वृद्ध शरीर के गुलाम बने हुए हैं। यह अपनी परतंत्रता प्रकट करते परन्तु जो अपने शरीर को वश में कर लेता है, वह शरीर से मन चाहा काम करा सकता है। अमेरिका की एक ८० वर्ष की वृद्धा बहिन के सिर पर एक भी बाल सफ़ेद नहीं है, चेहरे पर झुर्रियों का

नाम नहीं। इसका क्या कारण है? इसका कारण है—आत्मसत्ता। जो ज्ञानी है वह भौतिक साधनों पर आज्ञा चला सकता है। सब काम उसकी आज्ञा के अनुसार ही होंगे। वह चाहे तब तक शरीर को टिका सकता है और चाहे तब शरीर छोड़ सकता है। तात्पर्य यह है कि अकाल-मृत्यु उसके समीप भी नहीं फटक सकती।

एक वृक्ष की डाल पर एक पक्षी बैठा है। उसी वृक्ष की दूसरी डाल पर बन्दर बैठा है। अगर वृक्ष की वह डालें या समूचा वृक्ष उखड़ कर गिरने लगे तो दोनों में से किसे अधिक दुःख होगा।

'बन्दर को!'

क्योंकि पक्षी उड़ सकता है। उसे अपने पंखों का बल है। वह समझता है, मैं इस पेड़ पर आनन्द लेने के लिए बैठा हूँ। वह गिरे तो क्या और न गिरे तो क्या? पक्षी को उसके रहने या गिरने की चिन्ता नहीं होती।

मित्रो! आप संसार के पक्षी बनना चाहते हैं या बन्दर बनना चाहते हैं? अगर आप पक्षी बनना चाहें तो पंख मैं लगा देना चाहता हूं। आप पंख लगा संसार-वृक्ष पर आनन्द लेने बैठेंगे और इसका नाश हो जायगा तो भी आपको कुछ कष्ट न होगा, क्योंकि आप स्वतंत्र बन जाएँगे। जो पंख न लगवा कर बन्दर बन कर बैठेगा उसे संसार रूपी वृक्ष के नाश होने पर घोर दुःख भोगना पड़ेगा।

जो अपने आपको द्रष्टा और संसार को नाटक रूप देखता है, सारी शक्तियाँ उसके चरणों की सेवा करने तैयार रहती हैं।

तीसरे प्रकार का दुःख आधिदैविक है। आंधी आना, अति वर्षा होना, अनावृष्टि होना अर्थात् बिल्कुल पानी नहीं बरसना, इत्यादि

दुःख आधिदैविक दुःख गिने गये हैं । इन सब के कारण उपस्थित होने पर चिन्ता करना और हर्ष मानना वृथा है। दुःख से बचने का उपाय उदासीन वृत्ति है।

संसार सम्बन्धी लालसाओं को बढ़ाना दुःख है और लालसाओं पर विजय प्राप्त करना सुख है।

मैं हमेशा आपको दुःख काटने का उपदेश देता हूँ। वास्तव में दुःख कैसे कट सकता है ? आपने दुःख दूर करने के अनेक उपाय किये हैं, अब भी आप दुःखों को निवारण करने के लिए अनेक धंधे कर रहे हैं, पर दुःख कटते नहीं हैं। इससे यह भलीभाँति सिद्ध होता है कि आपने दुःख काटने का ठीक ठीक उपाय नहीं समझा है। दुःखों के समूल नाश का उपाय शास्त्र बतलाता है।

लेश्या कहिए या चित्त की तरंग कहिए, एक ही बात है। जिन कामों में लेश्या शुद्ध बनी रहे वही काम सुख देने वाले हैं। बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि वह अपने चित्त की तरंगों का—लेश्याओं का—निरीक्षण करता रहे और उनकी शुद्धता पर पूर्ण लक्ष्य रक्खे। लेश्याओं का स्वरूप समझने के लिये एक उपयोगी दृष्टान्त इस प्रकार है:—

छः आदमी जंगल की ओर रवाना हुए। रास्ते में उन्हें भूख लगी। उन्हें पीले-पीले फलों से लदा हुआ एक आम का वृक्ष दिखाई दिया। वे आम के पास पहुँचे। उनमें से एक के पास कुल्हाड़ी थी। उसने कहा—मित्रो! इस वृक्ष में बहुत-से फल हैं। अभी इसे जड़ से काटकर गिराये देता हूँ। फिर आप लोग मन चाहे फल खाना और अपनी भूख मिटाना।

दूसरा बोला—भाई, तूने जड़ सहित वृक्ष काटने की बात कही सो मुझे अच्छी नहीं लगी। वृक्ष गिरा देने से कोई लाभ नहीं। मेरी राय तो यह है कि बड़ी-बड़ी डालियाँ काट ली जाएँ। ऐसा करने से हमें फल भी मिल जाएँगे और पेड़ भी बना रहेगा। पेड़ का ठूंठ बना रहेगा तो उसमें से फिर डालियाँ फूट निकलेंगी। लोगों को छाया भी मिल सकेगी और फल भी मिल जाएँगे।

भाइयो! इन दो पुरुषों की चित्तवृत्ति पर विचार करो। दोनों की तुलना में दूसरे मनुष्य का कहना प्रशस्त है। पहले कृष्ण लेश्या की अपेक्षा नील लेश्या प्रशस्त है।

तीसरा बोला—मित्र! मुझे तुम्हारा कहना भी नहीं जँचता। कब वृक्ष के डालियाँ फूटेंगी, कब पत्ते आएँगे! इसमें बहुत समय लगेगा। मोटी डालियों में तो फल हैं नहीं। फल टहनियों में लग हुए हैं। बेहतर हो सिर्फ टहनियाँ काट ली जाएँ। इससे वृक्ष की बुरी दशा न होगी और अपना भी काम बन जाएगा।

चौथे ने कहा—तुम भी मूर्ख हो। टहनियाँ तोड़ कर क्या पत्ते भी खाओगे? पत्ते तोड़ कर वृक्ष की सुन्दरता को नष्ट करने से क्या लाभ है? इससे तो छाया भी नहीं रहेगी। जो पत्ते तोड़ता है वह 'अपत' हो जाता है।

'पत' के दो अर्थ हैं—एक आबरू या इज्जत और दूसरा पत्ता। क्या तुम जिसकी छाया में बैठे हो, उसको अपत (बेइज्जत) बनाओगे? जो दूसरे की आबरू घटाता है उसकी आबरू भी नहीं रहती।

क्या सेठ को अपने मुनीम की, मुनीम को अपने सेठ की, पति को पत्नी की, पत्नी को पति की, गुरु को अपने चेले की, और चेले को

अपने गुरु की इज्जत घटानी चाहिए ? जिस संघ में आप रहते हैं उसे छिन्न-भिन्न कर डालना योग्य कहलाएगा ? नहीं। आपको याद है, राजगृही नगरी में व्यापारी कम्बल बेचने आये। राजा श्रेणिक ने कम्बल न खरीदे पर भद्रा सेठानी ने सोलह खरीद लिये। यह कम्बल साधारण नहीं थे। एक-एक कम्बल की कीमत सवा लाख रुपया थी। भद्रा को उन कम्बलों की आवश्यकता नहीं थी। फिर भी उसने राजगृही—अपने नगर की प्रतिष्ठा रखने के लिए खरीदे। वह न खरीदती तो व्यापारी सोचते—वाह ! राजगृही भी कैसी नगरी है, जहाँ एक कम्बल का खरीददार भी न निकला। सेठानी ने कम्बल खरीद कर कहा—सोलह ही लाये हो ? बत्तीस ले आये होते तो अच्छा था !

सेठानी भद्रा ने अपने नगर का मान रखने के लिए यह कहा। जिसमें वह रहती है उसकी बेइज्जती करना वह नहीं चाहती।

मित्रो ! यहीं से धर्मलेश्या आरम्भ होती है। क्या आप ध्यान-पूर्वक सुन कर इन बातों को स्मरण रक्खेंगे ?

चौथा पुरुष फिर बोला—भाई मेरी सम्मति तो यह है कि टहनियाँ या पत्ते न तोड़ कर फल ही फल तोड़ लेने चाहिए। इससे वृक्ष की शोभा भी न बिगड़ेगी और अपना काम निकल जायगा।

पाँचवें मित्र ने कहा—तुम्हारा कहना इन सब से अच्छा है, पर मुझे तो इसमें भी कुछ भूल मालूम होती है। कच्चे फल तोड़ने से कोई फ़ायदा नहीं है। जब पक जाएँगे तो दूसरों के काम आएँगे। अगर हम लोग इन्हें तोड़ कर फैंक देंगे तो दूसरों की दया न होगी। अतएव मेरी राय यह है कि कच्चे फल दूसरों के लिए छोड़ दिए जाएँ और

पके फल तोड़-कर खा लिए जाएँ। इससे अपना भी प्रयोजन सिद्ध हो जायगा और दूसरे बटोहियों को भी कष्ट न होगा।

छठे ने कहा—आप लोगों की सम्मति क्रमशः अच्छी है पर मैं कुछ और ही कहना चाहता हूँ। आप मेरा कहना मानेंगे तो विशेष लाभ होगा। वृक्ष पके हुए मीठे फलों को आप नीचे गिरा देता है। ऐसी स्थिति में वृक्ष का दान अंगीकार न करके उस पर डाका डालना क्या उचित है? हाँ, यदि वृक्ष पके फल गिराता न होता तो बात दूसरी थी। देखो, एक आम वह गिरा। और हवा के झौंके से यह भी गिर पड़े हैं। यह लो, देखो, तड़ातड़ गिरने लगे हैं। मित्रो! इन्हें खाओ और अपनी भूख बुझाओ। दूसरे सब विचार त्याग दो।

भाइयो, इस दृष्टान्त को आप हँस कर मत टाल देना। इसके मर्म को समझने का प्रयत्न कीजिए। इस दृष्टान्त से यह शिक्षा मिलती है कि जो चीज अनायास मिल रही है, उसके उत्पत्तिस्थान की जड़ नहीं काटना चाहिए।

तुम्हार खाने में गरीब भाइयों का नाश होता है। तुम्हारे दो दिन के मौज-शौक में उन बेचारों का कचरघान उड़ जाता है। उनके बाल-बच्चों के भूखों मरने की नौबत आजाती है। मित्रो! ऐसे काम करना उचित नहीं है। इसमें तुम्हारी प्रतिष्ठा नहीं है, अप्रतिष्ठा है। मृत्युभोज आदि की बुरी रीतियों को हटा दीजिये। ब्याह शादियों पर किये जाने वाले वृथा व्यय पर विचार कीजिए। इससे आपके देश की, आपकी जाति की और आपके धर्म की लज्जा रहेगी।

श्रावक को तृष्णा नहीं बढ़ानी चाहिए। उसे अल्पारम्भी और अल्पपरिग्रही रहना चाहिए। उसे अपने कामों में ऐसी लेश्या पैदा

करनी चाहिए जिससे चित्त में आनन्द रहे। व्यर्थ व्यय को बन्द करके आप दीन-दुखियों की मदद कर सकते हैं, भूखों मरते गरीबों को जीवन-दान दे सकते हैं। देश और धर्म के उत्कर्ष में योग दे सकते हैं।

मित्रो! दूसरे की सहायता में खर्च करना, दूसरे के दुःख को अपना दुःख मानना और दूसरे के सुख को अपना सुख समझना, मनुष्य का आवश्यक कर्त्तव्य है। ईश्वर से प्रार्थना करो कि आपकी प्रकृति ऐसी बन जाय। आपके हृदय में ऐसी सहृदयता और सहानुभूति उत्पन्न हो जाय।

> ऐसी मति हो जाय, दयामय! ऐसी मति हो जाय।
> औरों के दुःख को दुःख समझूं, सुख का करूँ उपाय।
> अपने दुःख सहूँ सहर्ष पर-दुःख न देखा जाय ॥दयामय०॥

एक व्यक्ति जब तक अपने ही सुख को सुख मानता रहेगा, जब तक उसमें दूसरे के दुःख को अपना दुःख मानने की संवेदना जागृत न होगी, तब तक उसके जीवन का विकास नहीं हो सकता। उसके जीवन का धरातल ऊँचा नहीं उठ सकता। अवतारों और तीर्थंकरों ने दूसरों के सुख को ही अपना सुख माना था। इसी कारण वे अपना चरम विकास करने में समर्थ हुए। जिस गरीब मनुष्य की भावना में ऐसी विशालता आ जाती है वह राजा को भी डिगा सकता है। पर जो अपने ही सुख को सुख मानता है, वह चाहे राजा ही क्यों न हो, शैतान या दुनिया का सत्यानाश करने वाला ही कहा जायगा।

किसी समय में एक राजा राज्य करता था। उसके पास बहुत से विद्वान् आते रहते थे। वे लोग राजा में जो दुर्गुण देखते उन्हें दूर

करने का उपदेश राजा को दिया करते थे। पर राजा किसी का कुछ मानता नहीं था। वह विद्वान् पण्डितों को अपने सुख में विघ्न डालने वाला समझता था। अगर कोई विद्वान् अधिक जोर देकर उपदेश देता तो राजा उसका अपमान करने में भी नहीं चूकता था। इस प्रकार किसी की बात पर कान न देने के कारण राजा के दुर्व्यसन बढ़ते गये।

एक रोज राजा अपने साथियों के साथ, घोड़े पर सवार होकर शिकार खेलने के लिए जंगल में गया। वहाँ अपना शिकार हाथ से जाते देख उसने शिकार का पीछा किया। राजा बहुत दूर जा पहुँचा। साथी बिछुड़ गये। पर शिकार हाथ न आया।

मनुष्य भले ही अपना कुव्यसन न छोड़े, मगर प्रकृति उसे चेतावनी जरूर देती रहती है। यही बात यहाँ हुई। बहुत दूर चले जाने पर राजा रास्ता भूल गया। वह बुरी तरह थक गया। विश्राम के लिए किसी पेड़ के नीचे ठहरा। इतने में जबर्दस्त आँधी उठी और पानी की वर्षा होने लगी। थोड़ी ही देर में बिजली चमकने लगी, मेघ घोर गर्जना करके मूसलधार पानी बरसाने लगे और ओलों की बौछार होने लगी। राजा बड़ी विपदा में फँस गया। उसने इसी जंगल में न जाने कितने निरपराध पशुओं को अपनी गोली का निशाना बनाया था। आज वह स्वयं प्रकृति की गोलियों—ओलों—का निशाना बना हुआ था। राजा ओलों से बचने के लिए वृक्ष के तने में घुसा जाता था पर वृक्ष ओलों से उसकी रक्षा न कर सका। घोड़ा थका हुआ था ही। ओलों की मार से वह और हाँफ गया और अन्त में उसने भी राजा का साथ छोड़ दिया। अब राजा को एक भी सहायक नजर नहीं आता था। उसके महलों में सैंकड़ों दास

और दासियों का जमघट था, मगर आज इस मुसीबत के समय कोई खोज-खबर लेने वाला भी नसीब नहीं था।

विपत्ति हमेशा नहीं रहती। कभी न कभी वह टल ही जाती है। इस नियम के अनुसार पानी का बरसना, मेघों का गरजना और हवा का चलना बन्द हो गया। धीरे-धीरे बादल भी फटने लगे। अब राजा के जी में जी आया। उसने चारों तरफ दृष्टि दौड़ाई तो जल ही जल दिखाई दिया। पर दूर की तरफ नज़र दौड़ाने पर अग्नि का कुछ प्रकाश दिखाई दिया।

प्रकाश देखकर राजा के हृदय में तसल्ली बँधी। उसने सोचा—वहाँ कोई मनुष्य अवश्य होगा। वहाँ चलना चाहिए। रास्ते में गिरता-पड़ता फिसलता हुआ धीरे-धीरे वह अग्नि के प्रकाश की तरफ बढ़ा। वह ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता जाता था, एक झोंपड़ी उसे साफ़ मालूम होती जाती थी। आखिर राजा झोंपड़ी के द्वार पर जा पहुँचा।

राजा शिकारी के वेष में झोंपड़ी के द्वार पर खड़ा हुआ। झोंपड़ी में एक किसान रहता था। राजा को देखते ही उसने कहा—'आओ भाई, अन्दर आ जाओ।'

अहा! ऐसी घोर विपदा के समय यह स्नेह-पूर्ण 'भाई' संबोधन सुनकर राजा को कितना हर्ष हुआ होगा!

किसान राजा को शिकारी ही समझे था। उसके कपड़े पानी से तर देखकर किसान ने कहा—ओह! तू तो पानी से लथ-पथ हो गया है! आज तुझे बड़ी तकलीफ उठानी पड़ी होगी।

किसान के सहानुभूति से भरे मीठे शब्द सुन कर राजा गद्गद् हो गया। भाटों और चारणों के द्वारा बखान की गई अपनी

बिरुदावली सुनने में और अपने मुसाहिबों के मुजरे में जो आनन्द उसे अनुभव न हुआ होगा, वह अपूर्व आनन्द किसान के इन थोड़े-से शब्दों ने उसे प्रदान किया।

किसान ने अपनी स्त्री से कहा—देख, इस शिकारी के सब कपड़े गिले हो रहे हैं। इसे ठण्ड लग रही है। अपना कम्बल उठा ला। इसे कम्बल देकर इसके कपड़े निचोड़ कर सूखने डाल दे।

किसान की स्त्री कम्बल ले आई। राजा ने बहुत-से कीमती दुशाले ओढ़े होंगे, पर इस कम्बल को ओढ़ने में उसे जो आनन्द आया वह शायद दुशालों से नसीब न हुआ होगा।

आज राजा को यह छोटी-सी झौंपड़ी अपने विशाल राज-महलों की अपेक्षा अधिक आनन्ददायिनी प्रतीत हुई। किसान-दम्पत्ति की सेवा उसे ईश्वरीय वरदान-सा प्रतीत हुआ। राजा जिन महलों को अपना मान कर गर्व से इतराता था, जिस वैभव पर फूला नहीं समाता था, आज वह सब उसे तुच्छ प्रतीत हो रहा था।

राजा ने जब कम्बल पहन लिया, तब किसान ने घास के बिछौने की ओर इशारा करके कहा—तू बहुत थका मालूम देता है। चेहरा तेरा थकावट का मारा कुम्हला गया है। वह चमड़ा पड़ा है। उसे बिछा कर उस बिछौने पर विश्राम कर ले।

राजा सो गया। थकावट के मारे उसे गहरी नींद आ गई।

किसान ने स्त्री से कहा—बेचारे की ठण्ड अभी नहीं गई होगी, जरा आग से तपा दे। स्त्री फूटे-टूटे कम्बल के चीथड़ों का गोटा बना कर राजा को तपाने लगी। किसान की स्त्री अपने पुत्र के समान

विशुद्ध-भाव से राजा की सेवा कर रही थी। सरल-हृदया किसान-पत्नी के हृदय में वही वात्सल्य था जो अपने बेटे के लिए होता है।

और किसान राजा के कपड़े हिला-हिला कर अग्नि के ताप से सुखाने में लगा हुआ था।

जब राजा अँगड़ाई लेता हुआ उठ खड़ा हुआ तब किसान ने कहा—अरे अब तो तू अच्छा दिखाई देता है। अब तेरा चेहरा भी पहले से अच्छा मालूम होता है। पर यह तो बता, तू घर से कब निकला था?

राजा—सुबह।

किसान—तब तो तुझे भूख लगी होगी। अच्छा, (स्त्री की तरफ देखकर) अरी जा, इसके लिए रोटी और डूङ्गरी-पालर की तरकारी ले आ।

राजा मोटी रोटी जंगली तरकारी के साथ खाने बैठा। उसने अपने सुसराल में, बड़ी मनवार के साथ अच्छे-अच्छे पकवान खाये होंगे। पर कहाँ वह पकवान और कहाँ आज की यह मोटी रोटी! उन पकवानों में जड़ का माधुर्य था, पर इस मोटी रोटी में किसान-दम्पत्ति के हृदय की सजीव मधुरता! उन पकवानों को भोगने वाला था राजा और इस रोटी को खाने वाला था साधारण मानवी! राजा इस भोजन में जो निस्वार्थ-भाव भरा हुआ पाता था, वह उन पकवानों में कहाँ!

रात बहुत हो गई थी। किसान-दम्पत्ति और उसके बाल-बच्चों सहित राजा उसी झौंपड़ी में फिर सो गया। मगर राजा को नींद नहीं आ रही थी। मन ही मन वह किसान की सेवा पर लट्टू हो रहा

था। पंडितों के उपदेश ने उसके हृदय पर जो प्रभाव नहीं डाला था, किसान की सेवा ने वह प्रभाव उसके हृदय पर डाला। एक ही रात में उसका सारा जीवन पलट गया। अब तक वह निरा राजा था, आज किसान ने उसे आदमी भी बना दिया।

प्रातःकाल राजा ने अपने कपड़े पहने और किसान से जाने की आज्ञा माँगी। किसान को क्या पता था कि जिसके नाम-मात्र से बड़ों-बड़ों का कलेजा काँप उठता है, वह महाराजाधिराज यही हैं। उसकी निगाह में वह साधारण मनुष्य था। किसान ने यही समझते हुये कहा—'अच्छा भाई, जा। यह झौंपड़ी तेरी ही है। फिर कभी आना।'

इस आत्मीयता ने राजा के दिल में हलचल मचा दी। वह किसान के पैरों में गिर पड़ा। किसान को अपना गुरु मान वह वहाँ से चल दिया।

राजा अपने महल में पहुँचा। राजा के पहुँचते ही मुसाहबों ने मुजरा किया। रानियों ने आदर-सत्कार कर कुशल-क्षेम पूछी। पर राजा को यह सब शिष्टाचार फ़ीका मालूम हुआ। राजा के दिल में किसान की सेवा-परायणता, किसान-पत्नी की सरलता और उन दोनों की सादगी एवं वत्सलता ने घर कर लिया था। वह उसे भूल नहीं सका। बार-बार वही याद करके वह प्रफुल्लित हो जाता था।

विद्वानों ने उसे बहुतेरे उपदेश दिये थे, पर उनका कुछ भी असर नहीं हुआ था। किसान की सरल और निस्वार्थ सेवा ने राजा पर ऐसा जादू डाला कि उसका सारा जीवन-क्रम ही बदल गया। राज्य में जो त्रुटियाँ थीं, उसने उन्हें दूर कर दिया और अपने तमाम दुर्व्यसनों को तिलांजलि दे दी।

एक गरीब की प्रेम-पूर्ण सेवा ने सारे राज्य को सुधार दिया। राजा उस किसान को अपना आदर्श और महा-पुरुष मानने लगा। जब भी उसे किसान का स्मरण हो आता, तभी वह किसान के चरणों में अपना सिर झुका देता।

मित्रो ! दूसरे के सुख में अपना सुख मानने वाले का प्रभाव कितना होता है, यह इस कहानी से समझो। वास्तव में वही सच्चे सुख का अधिकारी होता है जो दूसरों के सुख को ही अपना सुख मानता है।

समस्त प्राणियों में ईश्वर विराजमान है। प्राणियों की सेवा करना ईश्वर की सेवा है। जिस मनुष्य में इतना ज्ञान नहीं वह पशु से भी गया-बीता है। अपने मनुष्यत्व को सार्थक करने के लिए जो सब प्राणियों की सेवा करता है, वह देवत्व को प्राप्त करके अक्षय और असीम कल्याण का भाजन बनता है। वह 'सच्चिदानन्द' के सच्चे स्वरूप का ज्ञाता है।

भीनासर
५—९—२७

स्याद्वाद

अनेक मत-मतान्तरों में धर्म के सम्बन्ध में अपने-अपने अनुमान की बातें बतलाई गई हैं। कइयों ने कई प्रकार के तर्क-वितर्क भी किये हैं। परन्तु अधिकांश विचार अपूर्ण हैं। वास्तविकता का पता बहुत कम ने पाया है।

कुछ जन्म के अन्धों ने हाथी का नाम सुना। पर हाथी कैसा होता है, इस बात का उन्हें पता नहीं। किसी ने हाथी लाकर उनके सामने खड़ा कर दिया। उनमें से कोई हाथी के पैर को हाथ लगाता है, कोई सूंड पकड़ता है, कोई कान पर हाथ फेरता है, कोई पेट टटोलता है और कोई पूंछ पकड़ता है। अब उनमें से एक-एक से पूछा जाय कि भाई, हाथी कैसा होता है?

जिसने पैर को हाथ लगाया था वह कहता है—हाथी खम्भे के समान होता है। सूंड पकड़ने वाला कहता है—हाथी मूसल के समान

होता है। कान पर हाथ फेरने वाला कहता है—हाथी सूप (छाजले) के समान होता है। पेट टटोलने वाला कहता है—हाथी कोठी के समान होता है और पूंछ पकड़ने वाला कहता है—हाथी रस्से के समान होता है।

इन सब का कहना एक-एक अंश में सत्य अवश्य है, पर अपनी-अपनी धुन में जब वे एक दूसरे की बात काटने लगते हैं, तब उन सब का कथन असत्य हो जाता है। हाथी का पैर पकड़ने वाले की दृष्टि में सूंड पकड़ने वाले का और सूंड पकड़ने वाले की दृष्टि में पैर पकड़ने वाले का कथन मिथ्या है। इसी प्रकार प्रत्येक अन्धा दूसरे अन्धे को झूठा कहकर परस्पर में विवाद खड़ा करता है। लेकिन हाथी को पूर्ण रूप से देखने वाला सूझता आदमी जानता है कि उन्होंने सत्य के एक-एक अंश को ही ग्रहण किया है और दूसरे अंशों का अपलाप कर दिया है। कदाचित् वे लोग अपने आपको सत्य समझते हुए दूसरों को भी सच्चा समझें तो उन्हें मिथ्या का शिकार नहीं होना पड़े। उनकी सचाई, दूसरे की अपेक्षा को समझकर उसे सच मानने में है और दूसरे को झूठ कहने से वे स्वयं झूठे बन जाते हैं। अगर सब अन्धे अपनी-अपनी एकदेशीय कल्पना को एकत्र करके हाथी का स्वरूप समझें तो उन्हें हाथी की सर्वाङ्ग-सम्पूर्ण आकृति का ज्ञान हो सकता है परन्तु अज्ञान के कारण वे आपस में एक-दूसरे को झूठा कह कर स्वयं झूठ के पात्र बनते हैं।

धर्मों के विषय में भी यही हाल है। सत्य एक है, अखण्ड है और व्यापक है। संसार के विभिन्न पन्थ या सम्प्रदाय उस सत्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु ज्ञान की अपूर्णता के कारण अखण्ड सत्य को न पाकर सत्य का एक अंश ही उन्हें उपलब्ध होता है। सत्य के एक अंश को ही सम्पूर्ण सत्य मान लेने से धार्मिक

विवाद खड़ा हो जाता है। उदाहरण के लिए वस्तु की नित्यता और अनित्यता को लीजिए। वस्तु द्रव्य-रूप से नित्य है और पर्याय रूप से अनित्य है अर्थात् मूल वस्तु की अवस्थाओं में निरन्तर परिवर्त्तन होता रहता है, परन्तु वह मूल वस्तु तमाम अवस्थाओं में ज्यों की त्यों बनी रहती है। मूल द्रव्य का कभी विनाश नहीं होता और पर्यायें बदले बिना नहीं रहती। इस प्रकार विश्व की प्रत्येक वस्तु द्रव्य की दृष्टि से नित्य है और पर्याय की दृष्टि से अनित्य है। परन्तु एक धर्म के अनुयायी वस्तु को एकान्त नित्य मानते हैं और दूसरे धर्म वाले उसे एकान्त अनित्य मानते हैं। दोनों सत्य के दो अशों में से एक-एक अंश को छोड़ देते हैं और एक-एक अंश को अंगीकार करते हैं। अब यदि अनित्यवादी, नित्यवादी से कहे कि भाई, तुम्हारा कथन सत्य है, मगर मेरे कथन को भी सत्य समझो। इसी प्रकार नित्यवादी अपने कथन की सत्यता के साथ अनित्यवादी के कथन को भी सत्य मान ले तो सत्य के दोनों अंश मिलने से पूर्ण सत्य की प्रतिष्ठा हो जायगी। इसके विपरीत अगर वे एक-दूसरे को मिथ्या मानेंगे तो दोनों ही मिथ्या हो जाएँगे।

इस प्रकार विभिन्न धर्मों में सत्य का जो अंश विद्यमान है उसे ठीक तरह न समझने के कारण और अपूर्ण सत्य को पूर्ण सत्य के रूप में प्रकट करने के कारण परस्पर झगड़े होते हैं। सभी धर्म वाले अपनी-अपनी धुन में मस्त हैं। वे एक-दूसरे को झूठा ठहराते हैं, इसी कारण वे स्वयं झूठे ठहरते हैं। सब इकट्ठे होकर, न्याय-बुद्धि से, पक्षपात छोड़कर धर्म का निर्णय करें तो सम्पूर्ण धर्म का सच्चा स्वरूप मालूम हो सकता है।

धर्म के विभिन्न-रूप जनता के सामने रखने से जनता की श्रद्धा डगमगाने लगती है और धर्म के प्रति अश्रद्धा पैदा होने लगती है।

जैन दर्शन में माना हुआ स्याद्वाद सिद्धान्त धार्मिक विवादों को समाप्त करने का बहुत ही श्रेष्ठ उपाय है। वह दूसरे के दृष्टिकोण को उदारतापूर्वक समझने, ग्रहण करने और सत्य का अंग बना लेने की शिक्षा देता है। स्याद्वाद ऐसी मशीन है, जिसमें सत्य के खंड-खंड मिल कर अखंड अर्थात् परिपूर्ण सत्य ढ़ाला जाता है। स्याद्वाद का सम्यक् प्रकार से उपयोग किया जाय तो मिथ्या प्रतीत होने वाला दृष्टिकोण भी सत्य प्रतीत होने लगता है। जगत् के धार्मिक और दार्शनिक दुराग्रहों को समाप्त करने के लिए स्याद्वाद के समान और कोई उपाय नहीं है।

असत्य का परित्याग करना और सत्य को ग्रहण करना बुद्धिमान पुरुष का कर्त्तव्य है। न्यायाधीश के सामने वादी और प्रतिवादी-दोनों अपना-अपना पक्ष उपस्थित करके उसे प्रमाणित करने का प्रयत्न करते हैं, पर बुद्धिमान् न्यायाधीश अपना दिमाग लगा कर— प्रमाणों की परीक्षा करके सत्य-असत्य का निर्णय करता है। धर्म के विषय में भी यही बात होनी चाहिए। जगत् के प्रपञ्चों से बचने के लिए और शान्तिलाभ के लिए धर्म की उपासना की जाती है। इसलिए धर्म को अशान्ति का कारण नहीं बना डालना चाहिए और न उसमें प्रपञ्चों को ही स्थान मिलना चाहिए।

जैन दर्शन का तत्त्व क्या है? राग-द्वेष को पूर्ण रूप से जीत कर जिन महापुरुषों ने धर्म की स्थापना की है उन्हीं का धर्म जैनधर्म कहलाता है। राग-द्वेष पर पूर्ण विजय प्राप्त कर लेने पर अज्ञान भी नहीं टिक सकता। अतएव वीतराग और सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित तत्त्व ही जैनधर्म है।

जगत् में असत्य भाषण के कारणों की जांच की जाय तो मालूम होगा कि असत्य भाषण के मूल कारण दो हैं—अज्ञान और

राग-द्वेष। या तो मनुष्य अज्ञान के कारण असत्य भाषण करता है या राग द्वेष के कारण दूसरे को ठगने के लिए। जिस महापुरुष में उक्त दोनों कारणों में से एक भी कारण विद्यमान नहीं है, वह असत्य वक्ता नहीं हो सकता। वीतराग और सर्वज्ञ का कथन सत्य ही हो सकता है, इसमें लेशमात्र भी संशय नहीं है। अतएव उन्हीं का कथन दर्शन हो सकता है।

जैन दर्शन का असली तत्त्व स्याद्वाद या अनेकान्तवाद है। स्याद्वाद क्या है, यह बात बहुत-से जैन कहलाने वाले भाई भी नहीं समझते। मगर मैं यह नहीं चाहता कि आप जैन होकर भी जैन-दर्शन के प्राण के समान स्याद्वाद-सिद्धान्त से अनभिज्ञ रहें। स्याद्वाद का विषय गम्भीर है। अतएव उसकी सूक्ष्म विवेचना न करते हुए कुछ स्थूल बातें ही आपको बतला देना चाहता हूँ।

आप किसी मनुष्य से पूछिए कि तुम किस के पुत्र हो या पिता हो ? मामा हो—या भानेज हो ? काका हो या भतीजे हो ? वह कहेगा—'मैं पिता हूँ।' उस समय आप उससे कहिए—'आप विचार कर बोलिए।' वह कहेगा—'मैं विचार कर ही बोल रहा हूँ। तब आप उससे पूछिए—आपके पिता हैं या नहीं। अगर वह कहे—'हाँ हैं' तो आप फिर पूछिए—'अगर पिता हैं तो आप पिता कैसे हुए ? आप उनके पुत्र हैं या नहीं ?' वह कहेगा—'हाँ, मैं अपने पिता का पुत्र हूँ।' तब आप कह सकते हैं—'आप अपने को पिता बतलाते थे, सो अपेक्षा से आपका कथन मिथ्या हुआ। वास्तव में आपको यह कहना चाहिए कि मैं अपने पुत्र की अपेक्षा पिता हूँ, अपने पिता की अपेक्षा पुत्र हूँ। इसी तरह अपने भानेज की अपेक्षा मामा हूँ, मामा की अपेक्षा भानजा हूँ आदि।'

तात्पर्य यह है कि एक ही मनुष्य भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से पितापन, पुत्रपन, मामापन, आदि अनेक गुण रहते हैं। ऐसी स्थिति में जो मनुष्य एक ही गुणों को लेकर ज़िद करने बैठ जाता है, वह दूसरों गुणों की अपेक्षा से झूठा पड़ जाता है। जो मनुष्य अपने आपको एकान्त रूप से पिता ही समझता है वह अपने पिता की अपेक्षा भी पिता हो जाएगा और जो एकान्ततः पुत्र बनता है वह अपने पुत्र का भी पुत्र कहलाने लगेगा। इस प्रकार एकान्त दृष्टि मिथ्या होती है।

एक उदाहरण और लीजिए। आप लोग मेरे सामने बैठे हुए हैं। मेरी अपेक्षा आप पूर्व दिशा में बैठे हैं और आपकी अपेक्षा मैं पश्चिम की तरफ बैठा हूँ। मगर जो सज्जन मेरे पीछे बैठे हैं उनकी अपेक्षा मैं पूर्व में और आपके पीछे बैठे हुए सज्जनों की अपेक्षा आप पश्चिम में बैठे हुए हैं। ऐसी स्थिति में आप से पूछा जाय कि आप किस दशा में बैठे हैं ? तो आपका उत्तर अपेक्षा का ध्यान रख होना चाहिए। आप कहेंगे—'किसी अपेक्षा से हम पूर्व में बैठे हैं, किसी अपेक्षा से पश्चिम में बैठे हैं।' अगर आपने अपेक्षा का ध्यान रख कर उत्तर दिया तो आपका उत्तर सच्चा होगा। अगर आप हठ पकड़ कर बैठ जाएँगे और कहेंगे कि हम तो पूव में ही बैठे हैं तो तो आप का कथन मिथ्या हो जायगा। इस प्रकार सापेक्ष दृष्टि सत्य होती है और निरपेक्ष दृष्टि मिथ्या होती है। अपेक्षा का ध्यान रख कर कथन करना ही स्याद्वाद है।

स्याद्वाद सिद्धान्त में जीव अजीव, आस्रव, संवर, सत्य, असत्य आदि सभी का वर्णन इसी प्रकार किया गया है। किसी भी वस्तु का सच्चा स्वरूप स्याद्वाद के बिना नहीं समझा जा सकता।

एक आदमी कहता है—मैं ब्राह्मण हूँ, वह शूद्र है। पर क्या यह बात एकान्त सिद्ध है ?

'नहीं !'

इसलिए कि मनुष्य के ऊपर न तो ब्राह्मणत्व की कोई छाप लगी है और शुद्रत्व की ही। जिस प्रकार ब्राह्मण अपने अंग-प्रत्यंग से व्यावहारिक काम करता है उसी प्रकार शूद्र भी काम करता है। फिर दोनों में अन्तर क्या है ? दोनों में अगर कोई अन्तर हो सकता है तो यही कि ब्राह्मण में ब्राह्मण सम्बन्धी पठन-पाठन आदि लक्षण विद्यमान हैं और शूद्र में सेवा करना आदि शूद्र के लक्षण होते हैं। मगर कई-एक ब्राह्मण सेवाधर्म अङ्गीकार किये हुए हैं और सेवा करना शूद्र का धर्म है। जब कोई ब्राह्मण, शूद्र का काम अपनाता है तो क्या वह कर्म की अपेक्षा से शूद्र नहीं कहलाएगा ? इसी प्रकार ब्राह्मणज्ञान आदि कोई ब्राह्मणोचित गुण किसी शूद्र में विद्यमान हो तो क्या वह उस अपेक्षा से ब्राह्मण नहीं कहलाएगा ?

अपेक्षा से ब्राह्मण और अपेक्षा से शूद्र की कल्पनाकी जाती है। इसके उदाहरण महाभारत में भी मिलते हैं। कौन मनुष्य किस जाति में गिना जाना जाहिए, इसका आधार गुण-कर्म पर था। प्राचीन काल में आजकल की तरह संकीर्णता नहीं थी। गुण-कर्म के अनुसार ही वर्णव्यवस्था की गई थी। उस समय न तो ब्राह्मणत्व का ठेका किसी के पास था और न शूद्रत्व का ही। जो ब्राह्मणोचित कर्म करता है वह ब्राह्मण कहलाता था और जो शूद्र-कर्म करता था वह शूद्र कहलाता था। गीता में स्पष्ट कहा है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्त्तारमपि मां विद्ध्यकर्त्तारमेव च ॥

अर्थात्—मैंने गुण-कर्म विभाग से चार वर्णों की रचना की है, जिससे संसार में अव्यवस्था न हो। जिसमें जैसी योग्यता हो उसे वही काम सँभलाया जाय। ऐसा न हो कि बुद्धिमान् पुरुष को उसके योग्य काम न मिले और क्षुद्र बुद्धिवाले को बुद्धिमत्ता का काम सौंपा जाय। ऐसा करने से मनुष्य समाज की बड़ी हानि होगी, यह बात ध्यान में रख कर वर्णव्यवस्था की गई।

कार्य व्यवस्थित न होने से किस प्रकार मुंह की खानी पड़ती है, यह बात बाबर बादशाह के दृष्टान्त से समझना चाहिए।

बाबर ने हिन्दुस्थान पर चढ़ाई की, पर उसे हार खा कर लौट जाना पड़ा। प्रकृति का नियम है कि जो उद्योग करता है उसे सफलता मिले बिना नहीं रहती। नीति में कहा है—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः,
दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति ।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या,
यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः ॥

उद्योग करने वाले पुरुष-सिंह को लक्ष्मी प्राप्त होती है। जो पुरुष पुरुषार्थ नहीं करता उसे लक्ष्मी प्राप्त नहीं हो सकती। जो कायर है, नामर्द है, वही कहा करता है कि 'भाग्य में होगा सो मिल जायगा या ईश्वर देगा तो लेलेंगे।' परन्तु उद्योगी पुरुष भाग्य के भरोसे

कभी नहीं बैठता। वह अपना काम किया करता है। घानी में पाले बिना तिलों से तैल नहीं निकलता, यही बात प्रत्येक काम में समझनी चाहिए। अगर कोई काम सिद्ध न हो तो उसके लिए बार-बार प्रयत्न करना चाहिए। कभी न कभी वह फलीभूत हो जायगा। निराश होकर नहीं बैठना और पहले जो त्रुटि रह गई हो उसका संशोधन करना चाहिए। आप जानते हैं कि तिलों में से तैल निकालने के लिए घानी को १०-२० चक्कर काफ़ी नहीं होते। पूरे चक्कर काटने पर ही तैल निकल सकेगा।

बाबर उद्योगशील था। वह एक बार हिन्दुस्थान को न जीत सका पर उसके हृदय में जीतने की प्रबल इच्छा विद्यमान थी। इसी इच्छा से प्रेरित होकर उसने ईरान के बादशाह के पास अपना दूत भेज कर कहलाया—'बाबर हिन्दुस्थान को जीतना चाहते हैं, इसलिए उनकी सहायता कीजिए। ईरान के बादशाह ने दूत से कहा—'मैं सहायता करने के लिए तैयार हूँ, पर यह बताओ कि बाबर पहले हारे क्यों?'

दूत चतुर था। उसने उत्तर दिया— 'योग्य पदों पर योग्य' आदमियों को न रखने से उन्हें पराजित होना पड़ा। अर्थात् जो पद बुद्धिमानों के योग्य था उस पर मूर्ख विराजमान कर दिया गया और जो पद साधारण आदमी के योग्य था उस पर बुद्धिमान् नियुक्त किया गया। बड़े कामों को मूर्ख कर नहीं सकता था और साधारण करने में बुद्धिमान् पुरुष का जी नहीं लगता था। इस प्रकार सभी कामों में गड़बड़ी होने के कारण बाबर को हार खानी पड़ी। बादशाह को अपनी भूल अब मालूम हो गई है। अब की बार ऐसा न होगा।'

ईरान के बादशाह ने अपनी सेना भेजकर बाबर की मदद की। बाबर फिर भारत पर चढ़ आया और उसने अपनी विजय का झंडा यहाँ फहरा दिया।

तात्पर्य यह है कि गधे पर हाथी का बोझ लादना मूर्खता है।

न हि वारणपर्याणं वोढुं शक्तो वनायुजः।

अर्थात् हाथी का पलान गधा नहीं सहार सकता।

जैसे हाथी का बोझ गधे पर लादना मूर्खता है, उसी प्रकार गधे का काम हाथी से लेना भी बेवकूफी है। जो काम जिसके योग्य हो वही काम उस को सौंपना चाहिए। 'योग्यं योग्येन योजयेत्।' चातुर्वर्ण्य की स्थापना में यही भावना थी। इसमें बाप, बेटे का और बेटा बाप का लिहाज़ नहीं करता था। आज वर्णव्यवस्था की गड़बड़ के कारण भारतवर्ष की बड़ी हानि हो रही है।

चातुर्वर्ण्य समाज का विराट रूप है। इसमें क्षमा और विवेक-सागर ब्राह्मण मस्तक माने गये हैं। पराक्रमी वीर क्षत्रिय बाहु माने गये हैं। उदार दानी वैश्य पेट माने गये हैं और सेवा-भक्ति करने वाले शूद्र पैर माने गये हैं।

मित्रो! शरीर में प्रत्येक अङ्ग अपने उचित स्थान पर ही शोभा पाता है। पैर की जगह पैर की शोभा है और मस्तक की जगह मस्तक की। अगर पैर हाथ बन जाए और हाथ पैर बन जाय अर्थात् पैरों का काम हाथों से और हाथों का काम पैरों से लिया जाय, इसी प्रकार मस्तक का काम भुजाओं से और भुजाओं का काम मस्तक से लिया जाय तो काम चल सकता है? नहीं। अपने-अपने

स्थान पर ही सब की शोभा है । फिर भी सब अङ्गों के लाभ का ध्यान रखना चाहिए। मस्तक विचार का स्थान है। अगर वह अपना काम छोड़ दे तो शरीर निकम्मा बन जाता है। अगर हाथ यह कहे, कि मैं पेट के लिये अन्न क्यों दूं; तो नतीजा क्या होगा? पेट के साथ साथ हाथ की कमबख्ती आ जाएगी। इस प्रकार आप विचार कीजिए तो विदित होगा कि एक को दूसरे की अनिवार्य आवश्यकता है, अतएव सभी को सब का ध्यान रखना चाहिए। अगर आप पैर की परवाह नहीं करेंगे तो पंगु कौन बनेगा ? आप स्वयं ही या और कोई ?

जो बात शरीर के विषय में है वही समाज के विषय में समझनी चाहिए। ब्राह्मण की जगह ब्राह्मण, क्षत्रिय की जगह क्षत्रिय, वैश्य की जगह वैश्य और शूद्र की जगह शूद्र रहें, यही उचित एवं शोभास्पद है ।

ब्राह्मणों का काम समाज को ज्ञान देना, क्षत्रियों का काम रक्षा करना, वैश्यों का काम धनसंग्रह करना और शूद्रों का काम सेवा बजाना था। पर आज उल्टी गङ्गा बह रही है। आज बहुत-से ब्राह्मण शूद्रों का काम करते हैं। आज 'पीर बबर्ची भिश्ती खर' की कहावत चरितार्थ हो रही है। सेठजी के घर पानी भरने वाला ब्राह्मण, रसोई बनाना वाला ब्राह्मण, और कहाँ तक कहा जाय सब काम करने वाला ब्राह्मण ! हाय ! यह कैसी विपरीत दशा है !

प्राचीन काल के ब्राह्मण ब्रह्मचर्य पालने वाले, लोभ लालच को लात मार कर सन्तोषमय जीवन व्यतीत करने वाले और संसार को सद्ज्ञान का उपदेश देने वाले थे। इसलिए वे संसार के गुरु और पूजनीय माने जाते थे।

इसी प्रकार पहले के क्षत्रिय रक्षा करते थे। देश की रक्षा के लिये वे प्राण तक निछावर करने में नहीं हिचकते थे। गरीबों की रक्षा करना अपना परम धर्म समझते थे तथा परनारी को माता के समान पूजना—आराध्य देवी समझना—अपना कर्त्तव्य समझते थे। पर यह सब तब होता था जब क्षत्रिय इन्द्रिय दमन करने वाले, अपने वीर्य की रक्षा करने वाले होते थे। जो क्षत्रिय स्त्रियों का गुलाम बन जाता है, जो विषय भोग में मस्त रहता है वह कभी देश की रक्षा नहीं कर सकता। प्राचीन समय में क्षत्रिय-नारियाँ भी वीर हुआ करती थीं। वे विषय की गुलाम नहीं थीं। किसी अवसर पर अपने पति को पथ विचलित होते देख कर प्रत्येक उचित उपाय से उसे रास्ते पर लाती थीं। इसके लिए उन्होंने अपने प्राणों का भी बलिदान किया है।

मैंने एक पुस्तक में वनराज चावड़ा की कथा पढ़ी थी। वह गुजरात में बड़ा वीर हो गया है। उन दिनों उसकी शूरवीरता की धाक थी। उसके शौर्य की यशोगाथा सर्वत्र सुन पड़ती थी। मारवाड़ के राजाओं पर वनराज चावड़ा की गहरी छाप थी। एक एक बार मारवाड़ वालों ने सोचा—हमारे मारवाड़ में भी एक वनराज चावड़ा होना चाहिए। उन्होंने मिल कर यह फ़ैसला किया कि वनराज चावड़ा पैदा करने के लिए वनराज चावड़ा के 'पिता' की आवश्यकता होगी। जब वे यहाँ आवें तो किसी वीर क्षत्रियाणी के साथ उनका ब्याह करके वनराज चावड़ा पैदा कर लिया जाय। फैसला तो हो गया, पर उन्हें मारवाड़ में किस प्रकार लाया जाय यह समस्या खड़ी हुई। एक भाट ने कहा—'आज्ञा हो तो वनराज के पिता को मैं मारवाड़ में ले आऊँ!'

भाट की बात सभी ने स्वीकार की। भाट चला और बनराज के पिता के पास पहुँचा। बनराज के पिता कविता के बहुत शौकीन थे। भाट ने उन्हें वीर-रस का प्रवाह बहा देने वाली सुन्दर भाव-पूर्ण कविताएँ सुनाईं। उन्होंने प्रसन्न होकर यथेष्ट माँग लेने की आज्ञा दे दी। भाट ने हाथ जोड़ कर कहा—'महाराज! मैं आप ही को चाहता हूँ।'

राजा—मुझे?

भाट—जी हाँ, अन्नदाता!

राजा उसी समय सिंहासन से उतर पड़ा। लोगों ने बहुतेरा समझाया, पर वह न माना। सच्चा क्षत्रिय वीर अपने वचन के प्राण दे देना खिलवाड़ समझते थे। वे आप लोगों की तरह कह कर और हस्ताक्षर करके मुकर जाने वाले नहीं थे। अन्त में बनराज का पिता और भाट घोड़ों पर सवार होकर चल दिये। मार्ग में एक जंगल आया। वहाँ एकान्त देख कर बनराज के पिता ने पूछा—'भाई, मैं चल रहा हूँ, मगर मुझे ले जा कर करोगे क्या? अगर कोई आपत्ति न हो तो बताओ।'

भाट ने कहा—अन्नदाता! मारवाड़ में एक बनराज की आवश्यकता है। आप बनराज के जनक हैं। आप ही इस आवश्यकता को पूरा कर सकते हैं। इसी उद्देश्य से आपको कष्ट दे रहा हूँ।

राजा—बात तो तुम्हारी ठीक है, पर अकेला मैं क्या करूँगा? बनराज पैदा करने के लिए बनराज की माँ भी तो चाहिए।

भाट—महाराज, वहाँ किसी वीर क्षत्रियाणी से आपका विवाह कर देंगे।

राजा—मगर वनराज पैदा करने के लिए ऐसी-वैसी माता से काम नहीं चलेगा। उसके लिए कैसी माता चाहिए, सो मैं बताता हूँ। यह वनराज की माता की कहानी है। एक बार मैं रानी के महल में गया। उस समय वनराज एक छः महीने का बच्चा था। मैं रानी के साथ कुछ विनोद करने लगा। रानी ने मना करते कहा—आप इस समय ऐसा न कीजिए। मैं पर-पुरुषों के सामने अपनी आबरू खराब नहीं कराना चाहती।

मैंने रानी से पूछा—यहाँ मेरे सिवाय और कौन पुरुष है ?

रानी ने पालने की ओर इशारा करके कहा—यह सो रहा है न ?

मैंने कहा—'वाहरी रानी ! एक छः महीने के बच्चे का इतना खयाल करती है ?' और मैंने उसके कन्धों के ऊपर अपने हाथ रख दिये।

वनराज ने उसी समय अपना मुंह फेर लिया। रानी ने कहा—देखा आपने ? आप जिसे अबोध बालक समझते हैं उसने मुंह फेर लिया ! हाय ! पुरुष के आगे मेरी इज्जत चली गई ! आपने उसे पुरुष नहीं, मांस का पिंड समझा और मुझे बेआबरू कर दिया !

दूसरे दिन वनराज की माता ने विष-पान करके प्राण त्याग दिये !

तुम्हारे यहाँ मारवाड़ में ऐसी कोई वीराङ्गना मिल सकेगी ?

भाट ने कहा—यह तो मुश्किल है महाराज !

राजा—तो बतलाओ, वनराज कैसे पैदा होगा ?

अन्त में निराशा के साथ भाट ने महाराज को वापस लौट जाने की प्रार्थना की। वनराज के पिता गुजरात लौट गये।

मित्रो ! इस कथा का आशय यह है कि वीर क्षत्रियाणियों में ही वीर क्षत्रिय-पुत्र पैदा हो सकते हैं और उन्हीं पर संसार का उद्धार निर्भर है। संसार का उद्धार करने वाले महान् पुरुष क्षत्रिय-वंश में पैदा हुए थे। समस्त तीर्थंकर और राम, कृष्ण आदि अवतार माने जाने वाले महात्मा भी इसी वंश में उत्पन्न हुए थे। वीर क्षत्रिय फौलाद का बना हुआ पुतला है। उसे अपने संकल्प से डिगाने की किसी में क्षमता नहीं है। ऐसे दृढ़ संकल्प पुरुष ही संसार में कुछ कर गुजरते हैं। कष्ट-सहिष्णुता जैसी क्षत्रियों में होती है, वैसी और किसी में नहीं।

उदाहरण के लिए कर्ण को लीजिए। कर्ण वास्तव में कुन्ती का पुत्र था किन्तु संयोगवश वह दासरथी का पुत्र कहलाया। वीर पांडव और कर्ण द्रोणाचार्य से शस्त्र-विद्या सीखते थे। द्रोणाचार्य पाण्डवों को मन लगा कर सिखाते, पर कर्ण को नहीं। कर्ण को यह बात बहुत बुरी लगी। आखिर कर्ण से न रहा गया और उसने आचार्य से इस पक्षपात का कारण पूछा। द्रोणाचार्य ने कहा—'हंसों का भोजन कौवों को नहीं दिया जाता।'

कर्ण तेजस्वी पुरुष था। उसने यह उत्तर सुना तो उसके क्रोध का ठिकाना न रहा। वह अपना अपमान न सह सकने के कारण वहाँ से चल दिया। उसने मन ही मन प्रतिज्ञा की—देखें, शस्त्र-विद्या में अर्जुन बढ़कर निकलता है या मैं ?'

उन दिनों परशुराम धनुर्वेद के आचार्य माने जाते थे। पर उनका प्रण था—सिवा ब्राह्मण के यह विद्या किसी और को नहीं सिखाऊँगा।

कर्ण को परशुराम के प्रण का पता था। वह ब्राह्मण का रूप धारण करके परशुराम के आश्रम में पहुँचा और उनसे धनुर्विद्या सिखाने की प्रार्थना की।

परशुराम ने उसका परिचय पूछा और उसने अपने को ब्राह्मण बतला दिया। अन्त में परशुराम ने उसकी प्रार्थना अंगीकार कर ली और कर्ण आश्रम में रहने लगा।

कर्ण परशुराम की अनन्य-भाव से सेवा करता था। परशुराम उसकी सेवा पर मुग्ध हो गया और उसे दिल खोल कर सिखाने लगा। कुछ दिनों बाद कर्ण ने सेवा और अधिक करना आरम्भ कर दिया। पर उसका असर उल्टा हुआ। सेवा की अधिकता ने परशुराम के हृदय में शंका उत्पन्न कर दी। वह सोचने लगा—ब्राह्मण-कुमार इतनी कठोर सेवा नहीं कर सकता। कदाचित् यह ब्राह्मणेतर न हो!

एक दिन की बात है कि परशुराम कर्ण की गोद में सिर रखकर सो रहे थे। एक कीड़े ने कर्ण की जांघ पर ऐसा काटा कि खून बहने लगा। जांघ इधर-उधर करने से गुरुजी की निद्रा भंग होने का उसे भय था। गुरु-भक्त कर्ण ने अपने कष्ट की परवाह न करते हुए धैर्य रक्खा और निश्चल बैठा रहा।

जांघ से बहा हुआ खून परशुराम के शरीर को छू गया। खून

की तरी से परशुराम चौंक कर उठ बैठे। कर्ण से खून बहने का कारण पूछा। कर्ण ने कीड़े के काटने का हाल कह सुनाया।

परशुराम ने क्रोध से कहा—ब्राह्मणकुमार इतना धैर्य नहीं रख सकता। सच-सच बता, तू कौन है ?

कर्ण ने हाथ जोड़ कर मस्तक झुका कर कहा—अपराध क्षमा हो। मैं क्षत्रिय-पुत्र हूँ।

परशुराम—तो मेरे आश्रम में आकर तूने असत्य-भाषण क्यों किया ? असत्य भाषण की सज़ा तेरे लिए यही है कि इसी समय आश्रम से बाहर हो जा। आज, अभी तुझे निर्वासित किया गया। दूसरे को इस घोर अपराध की सज़ा बहुत कठोर दी जाती, पर तूने मेरी बहुत सेवा की है। जा, तेरी विद्या सफल होगी।

कर्ण विनम्रता-पूर्वक आश्रम से बाहर हो गया।

मित्रो ! कष्ट-सहिष्णुता का नमूना देखिए। जाँघ में घोर वेदना होने पर भी कर्ण गुरुजी की निद्रा-भंग होने के डर से बिना हिले-डुले ज्यों का त्यों बैठा रहा। कर्ण की गुरु-भक्ति प्रशंसनीय है।

आज आप अपने को निर्बल और निर्वीर्य समझते हैं; पर आपके पूर्वज ऐसे नहीं थे। वे अतुल शक्ति के धनी थे। वे संसार की बहादुर से बहादुर जाति का मुकाबिला कर सकते थे। तुम भूल गये हो तुम्हारे पूर्वजों ने अपने प्रचंड भुज-दण्ड के बल पर न जाने कितने साम्राज्यों का निर्माण किया है और न मालूम कितने गर्वीले सम्राटों की शान को धूल में मिलाया है ! एक समय तुम्हारे पुरुषाओं के इशारे पर भारतवर्ष चलता था। उनकी जबर्दस्त धाक से दुनियाँ

काँपती थी। भारत उनपर अभिमान करता था। प्रजा उन्हें अपना रक्षक मानती थी और बड़े-बड़े वीर उनके आदेश की प्रतीक्षा करते थे।

जिनके पूर्वजों ने अपने देश की रक्षा की, वे आज अपने प्राणों की रक्षा के लिए दूसरों का मुंह ताकते हैं! जिनके पूर्वज अपनी जीवन-संगिनी तलवार के बल पर निर्भय सिंह की भाँति विचरते थे, वे आज अपनी बनियाई के लिए दुनिया में बदनाम हो रहे हैं! जिनके पूर्वज अन्याय और अत्याचार का प्रतिकार करने के लिए हँसते-हँसते सिर कटवा देते थे, वे आज अपनी जिन्दगी गुजारने के लिए अन्याय और अत्याचार के आगे माथा टेकने में लज्जित नहीं होते! जिनके पूर्वज किसी समय देश के आधार थे; वही आज अगर भार बन रहे हों तो कितने परिताप की बात है!

मित्रो! अर्थ को ही अपने जीवन की क्षुद्र सीमा मत बनाओ। अर्थ के घेरे से बाहर निकलो और देखो, तुम्हारा इतिहास कितना उज्ज्वल है, कितना तेजस्वी है, कितना वीरता-पूर्ण है। इतिहास तुम्हारे पूर्वजों की यशोगाथाओं से भरा पड़ा है। उसका प्रत्येक पृष्ठ उनके उद्दाम शौर्य का साक्षी है। तुम साधारण पुरुष नहीं हो। तुम्हारी रग-रग में क्षत्रिय-रुधिर चक्कर काट रहा है। तुम में कोई राठौर, कोई सीसोदिया और कोई चौहान है। कायरता की मनोवृत्ति त्यागो। अपनी शक्ति को समझो। निर्भय बनो।

तुम उस परम पुरुष के समान हो जिसके 'महावीर' नाम में ही शूरवीरता भरी हुई है और प्रचण्ड पराक्रम का प्रतीक 'सिंह' जिसका निशान था! तुम उस 'जैन-धर्म' के आराधक हो जिसके नाम में ही विजय का—जीत का—संदेश सुनाई दे रहा है। जिसका आराध्य

सिंह से अङ्कित महावीर है; जिसका धर्म विजयिनी शक्ति का स्रोत है, उसे कायरता शोभा नहीं देती। उसे वीर होना चाहिए।

संयम धारण करके काम, क्रोध आदि आन्तरिक शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना भी वीरता का ही कार्य है, परन्तु समय का विचार अवश्य कर लेना चाहिए। जिस समय सांसारिक जिम्मेवारी आ पड़े उसी समय वैराग्य उत्पन्न हो तो समझना चाहिए कि यह खोटा वैराग्य है। जिस समय महाभारत युद्ध की तैयारी हो रही थी उस समय अर्जुन को वैराग्य चढ़ा। तब कृष्ण ने अर्जुन को फटकारा—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषये समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्त्तिकरमर्जुन ! ॥

ऐ अर्जुन ! ऐसे विषम समय में नीच पुरुषों द्वारा अभिनन्दित, स्वर्ग-प्राप्ति को रोकने वाला और अपकीर्त्ति फैलाने वाला यह अज्ञान तुम्हें कहाँ से आगया ? इस समय का वैराग्य नरक में डालने वाला है।

भाइयो ! इस प्रकार की क्षत्रियों को शोभा देने वाली वीरता पैदा करने के लिए आत्मा में पवित्रता होनी चाहिए जिस क्षत्रिय के हृदय में दुर्व्यसनों ने अड्डा बना लिया हो उसमें ऐसी वीरता नहीं आ सकती, वह महाकायर होता है। जो स्वयं विषयों का दास है वह संसार पर शासन कैसे करेगा ?

जिसमें किसी प्रकार का व्यसन लगा हुआ है वह स्त्री-लंपट हुए बिना नहीं रह सकता। जो स्त्री-लंपट होगा वह अपने वीर्य की रक्षा नहीं कर सकता और जो वीर्यहीन होगा उसमें बल कहाँ ? बल के बिना संसार में वह अपना प्रभाव कैसे जमा सकता है ?

भगवान् ऋषभदेव ने वीर्य की रक्षा की थी, तभी तो वे संसार के पूजनीय हुए। आज न केवल जैन बल्कि वैष्णव लोग भी उनको अपना देव मानते और पूजते हैं। संसार वीर्यशालियों की पूजा करता है। आप अपने पूर्वजों के समान वीर्यशाली बनो और अपने धर्म को सम्भालो।

यही बात मुझे वैश्य भाइयों से कहनी है। वैश्य देश के पेट के समान हैं। पेट आहार को स्थान अवश्य देता है परन्तु उस आहार का उपभोग समस्त शरीर करता है। वह सिर्फ अपने ही लिए आहार जमा नहीं करता। वैश्य देश की आर्थिक-दशा का केन्द्र है। देश की आर्थिक-स्थिति को सुधारना उसका कर्त्तव्य है। वैश्यों को आनन्द-श्रावक का आदर्श अपने सामने रखना चाहिए और स्वार्थमय वृत्ति का त्याग कर जन-कल्याण की भावना को हृदय में स्थान देना चाहिए।

शूद्रों की दशा आपने बदतर बना दी है। इसी कारण देश आज पंगु बन गया है। अगर आप अपनी और अपने देश की सर्वाङ्गीण समुन्नति चाहते हैं तो उन्हें ऊँचा उठाइये। उन सेवकों को प्रेम की दृष्टि से देखिए। उन्हें अपने मनुष्यत्व का भान होने दीजिए। उन्हें समर्थ बनाइये।

इस प्रकार जैसे वर्ण-व्यवस्था गुण–कर्म की अपेक्षा से है, उसी प्रकार संसार की समस्त वस्तुएँ अपेक्षा पर ही स्थित हैं। इस सापेक्षवाद को अनेकान्तवाद या स्याद्वाद कहते हैं।

धार्मिक कलह और क्लेश का मूल एकान्तवाद है। जहाँ एक धर्म के अनुयायी ने दूसरे धर्म के दृष्टि-कोण को समझने का प्रयत्न न किया और उसमें रहने वाली आंशिक सचाई को अस्वीकार किया कि कलह का आरम्भ हो जाता है। इस कलह का अन्त करने का

अमोघ उपाय स्याद्वाद है। दार्शनिक जगत् में शान्ति स्थापना का इससे अच्छा और कारगर उपाय दूसरा नहीं है। अतएव स्याद्वाद को अपनाओ। उसे अपने जीवन का मूलमंत्र बनाओ। कदाग्रह को त्याग कर उदार-भाव से वीतराग द्वारा प्ररूपित मंगल-मार्ग का अनुसरण करो। इसी में आपका कल्याण है, इसी में देश का कल्याण है और यही विश्व-कल्याण का राजमार्ग है।

भीनासर
८—९—२७
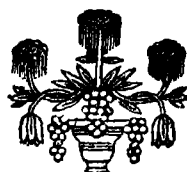
विवेक

मकान की मजबूती के लिए नींव की मजबूती आवश्यक है। जिस मकान की नींव मजबूत नहीं होती वह टिकाऊ नहीं होती। पहले नींव डाली जाती है फिर उसके ऊपर मकान चुना जाता है। धर्म रूपी महल को टिकाऊ बनाने के लिए भी नींव की जरूरत है—वह नींव है अधिकारी का निर्णय। वास्तविक अधिकारी के बिना धर्म वास्तविक लाभ नहीं पहुँचाता। मकान कितना ही सुन्दर क्यों न हो, नींव के बिना उसके किसी भी क्षण ढह जाने की संभावना रहती है।

धर्म का अधिकारी कौन है? यों तो जीव मात्र धर्म के अधिकारी हैं, पर किस प्रकृति वाले को कैसे धर्म की शिक्षा देनी चाहिए, इस बात का चतुर उपदेशक को अवश्य निर्णय कर लेना चाहिए।

संसार—व्यवहार से योग्यता की परीक्षा की जाती है। जिस मनुष्य की जैसी योग्यता है वैसा ही काम उसे सौंपा जाता है। इससे

न तो काम बिगड़ता है और न उस मनुष्य की असफलता होती है। जो जिसके योग्य नहीं है उसे वह कार्य सौंपा जाय तो काम सिद्ध नहीं होगा और वह मनुष्य दोई दीन से चला जाता है। अयोग्य काम में उसे सफलता नहीं मिलती और योग्य काम उसे सौंपा नहीं गया। इस तरह वह न इधर का रहता है, न उधर का रहता है। यही कारण है कि लोक व्यवहार में प्रायः वही काम उसे सौंपा जाता है जिसके योग्य वह होता है। जब व्यवहार में इस बात का ध्यान रक्खा जाता है तब धर्म में क्यों नहीं रखा जाना चाहिए ?

आज हरेक सम्प्रदाय वाला अपना—अपना दल बढ़ाने की चेष्टा करता है पर इस बात का विचार नहीं किया जाता कि कौन किस धर्म के पालने में समर्थ है और कौन नहीं ?

धर्म के अधिकारी का शास्त्र में नाम है—मार्गानुसारी। जैसे विदेशयात्रा पर जाने से पहले सब प्रकार की तैयारी की जाती है, इसी प्रकार मोक्ष- पथ पर चलने के लिए मार्गानुसारी पहले बनना चाहिए।

मार्गानुसारी के कर्त्तव्यों का शास्त्र में विस्तृत वर्णन है। किन्तु यहाँ संक्षेप में ही आप लोगों को कुछ बातें समझा देना चाहता हूँ। सर्वप्रथम मार्गानुसारी में विवेक की आवश्यकता है। पृथक्करण की मानसिक शक्ति को विवेक कहते हैं। जैसे कुशल स्वर्णकार सोने में मिले हुए अन्य पदार्थों को अलग और सोने को अलग कर देता है, उसी प्रकार धर्माधिकारी को हरेक वस्तु का पृथक्करण करना चाहिए। पृथक्करण करने से पता लग जायगा कि कौन-सी वस्तु ग्राह्य और कौन-सी अग्राह्य है ? मान लीजिए आपने नित्यानित्य के

विषय में पृथक्करण करना चाहा तो आप को विदित हो जायगा कि संसार में जो अगणित पदार्थराशि विद्यमान है उसमें नाशवान् कौन-सी और अविनश्वर कौन-सी है ? अविनश्वर के साथ संबंध रखना, उस पर विश्वास रखना सुखदाता है और नाशवान् से नाता जोड़ना दुःखदाई है । कहा है—

जब लगी आत्म-तत्त्व चिन्त्यो नहीं, त्यां लगी साधना सर्व झूठी ।

जब तक जड़-चेतन का विवेक नहीं होता तब तक कोई कार्य सिद्ध नहीं हो सकता । जड़-चेतन का विवेक हो जाना 'सम्यग्दृष्टि' है । भगवती सूत्र में कहा है—

'जिस मनुष्य को जड़-चेतन का ज्ञान नहीं हुआ, फिर भी कहता है कि मैं त्यागी हूँ, समझना चाहिए उसका खयाल गलत है । विवेक के बिना सब क्रियाएँ निष्फल-सी हैं । भौंरे के द्वारा लकड़ी पर 'क' अक्षर खुद भी गया तो उसे उससे क्या लाभ है ? अगर कुछ लाभ है तो 'क' अक्षर जानने वाले को । भौंरे के लिए तो वह व्यर्थ ही है ।'

विवेक के विना की गई क्रिया कदाचित् अच्छी बन जाय तो भी उसे अज्ञानी ही समझना चाहिए ।

मार्गानुसारी में विवेक के साथ वैराग्य की मात्रा भी होनी चाहिए । इह लोक के पदार्थों से—स्त्री, पुत्र, धन, मकान तथा स्वर्ग के सुखों की लालसा से चित्त को हटा लेना वैराग्य कहलाता है ।

कुछ भाइयों का खयाल है कि वैराग्य साधु को ही हो सकता है । हम गृहस्थ लोग वैरागी कैसे हो सकते हैं ? पर वास्तव में बात

ऐसी नहीं है। प्रत्येक प्राणी वैरागी बन सकता है। वैरागी का अर्थ वस्तुओं का परित्याग कर देना ही नहीं है। मान लीजिए किसी साधु ने सांसारिक वस्तुएँ त्याग दीं, पर उसके अन्तःकरण में उन वस्तुओं के प्रति अब भी लालसा बनी हुई है तो क्या उसे वैरागी कहना चाहिए ? नहीं, उसके विपरीत चाहे स्त्री पास रहे, धन रहे, पुत्र रहे, फिर भी अगर इनमें तल्लीनता नहीं है तो वह वैराग्य है। कमल जल में रहता है फिर भी जल से अलिप्त रहता है। ऐसा ज्ञान जड़-चेतन अर्थात् नश्वर–अनश्वर का विवेक होने पर उदित होता है।

जिसने शरीर को नाशवान् और आत्मा को अविनाशी समझ लिया, क्या शरीर के नाश होने पर उसे दुःख हो सकता है ? आत्म-तत्त्व का परिज्ञान हो जाने पर शरीर के टुकड़े-टुकड़े हो जाएँ तो भी दुःख का स्पर्श नहीं होता।

शरीर नाशवान् है, इसलिए विवेकी उसकी रक्षा करता है। जो वस्तु नाशवान् समझी जाती है उसीकी रक्षा की जाती है। अविनाशी वस्तु की रक्षा की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि वह स्वयं रक्षित है। आग लगने पर घास के झोंपड़े की रक्षा करने की फिकर होती है, न कि पत्थर के मकान की।

कामदेव बड़ा श्रावक था। उसके पास अठारह करोड़ दीनारें और साठ हजार गौएँ थीं। इसीसे उसके वैभव का अनुमान किया जा सकता है। पर क्या वह देवता की तलवार से भयभीत हुआ था ? शरीर के टुकड़े टुकड़े कर देने पर भी उसे चिन्ता हुई थी ?

मित्रो ! आप के वैभव से उसका वैभव अधिक ही था फिर भी जब उसे मृत्यु का भय नहीं था तब फिर आप मौत के नाम से क्यों

डरते हैं ? इस अन्तर का कारण यही है कि वह शरीर को नाशवान मानता था और भोगविलासों से विरक्त था। पर आप इससे उलटा समझे हुए हैं।

याद रखिए, शुद्ध विवेक के बिना आप कल्याण-मार्ग पर आगे नहीं बढ़ सकते। विवेक कल्याण-प्राप्ति की पहली शर्त है।

आपने पत्नी का पाणिग्रहण धर्म-पालन के लिए किया है। इसी प्रकार स्त्री ने भी आपका। जो नर या नारी इस उद्देश्य को भूल कर खान-पान और भोग विलास में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझते हैं वे धर्म के पति-पत्नी नहीं वरन पाप के पति-पत्नी हैं।

आज ऐसे धर्म के जोड़े बहुत कम नजर आते हैं। आज कल तो यह दशा है कि जो ज्यादा गहने पहनाता है वही अच्छा पति माना जाता है। विपत्ति आने पर जो पति, अपनी पत्नी से गहने माँग लेता है, उसे उसकी पत्नी राक्षस-सा समझने लगती है। इसका अर्थ यही न निकला कि पति, पति नहीं किन्तु जेवर पति है ?

मैं जब गृहस्थ–अवस्था में था, तब की बात है। मेरे गाँव में एक बूढ़े ने विवाह करना चाहा। एक विधवा बाई की एक लड़की थी। बूढ़े ने वृद्धा के सामने विवाह का प्रस्ताव उपस्थित किया मगर उसने और उसकी लड़की दोनों ने उसे अस्वीकार कर दिया। कुछ दिनों बाद उस बूढ़े की रिश्तेदार कोई स्त्री उस बाई के पास आई और उसे बहुत-सा जेवर दिखलाते कहा—तुम्हारी लड़की का विवाह उनके साथ हो जायगा तो इतना जेवर पहनने को मिलेगा। लालच में आकर विधवा ने अपनी लड़की का विवाह उस बूढ़े के साथ कर दिया।

मेवाड़ की भी एक ऐसी ही घटना है। एक धनी वृद्ध के साथ एक कन्या का विवाह होना निश्चित हुआ। समाज-सुधारकों ने लड़की की माता को ऐसा न करने के लिए समझाया। लड़की की माता ने कहा पति मर जायगा तो क्या हुआ, मेरी लड़की गहने तो खूब पहनेगी।

मित्रो! आप ही बतलाइए, उक्त दोनों विवाह किसके साथ हुए?

'धन के साथ!'

'पति के साथ तो नहीं?'

'नहीं!'

धन ही इन कन्याओं का पति बना!

भाइयो! आपको मेरा कहना शायद अप्रिय लगेगा पर समाज की दयनीय और भयानक दशा देख कर मेरे हृदय में आग धधक रही है। इसलिए कह देता हूँ कि समाज का सत्यानाश करने वाली रीतियों को आप तुरंत त्याग दीजिए। आप अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए विधवा बहिनों को सोना पहनाना अपना कर्त्तव्य समझते हैं, पर यह बहुत बुरी चाल है। यह चाल विधवा-धर्म से विरुद्ध है। मानव की प्रतिष्ठा फिर चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, उसके सद्गुणों पर अवलंबित रहनी चाहिए। वही वास्तविक प्रतिष्ठा है। धन से प्रतिष्ठा का दिखावा करना मानवीय सद्गुणों के दिवालियेपन की घोषणा करने के समान है। आप कहते हैं—बिना आभूषणों के विधवा अच्छी नहीं लगती, इसलिए आभूषण पहनाते हैं। मैं समझता हूँ, ऐसा सोचने में विलासमय वृत्ति से काम लिया जाता है। विधवा

बहिन के मुख मण्डल पर जब ब्रह्मचर्य का तेज विराजमान होगा तो उसके सामने आभूषणों की आभा फीकी पड़ जाएगी। चेहरे की सौम्यता बलात् उसके प्रति आदर का भाव उत्पन्न किये बिना न रहेगी। उसके तप, त्याग और संयम से उसके प्रति असीम श्रद्धा का भाव प्रकट होगा। इनमें क्या प्रतिष्ठा नहीं है? सच समझो तो यही उत्तम गुण उसकी सच्ची प्रतिष्ठा के कारण होंगे। ऐसी अवस्था में कृत्रिम प्रतिष्ठा के लिए उसे वैधव्य-धर्म के विरुद्ध आवश्यकता नहीं रहेगी। इसलिए अच्छी न लगने का मोह और भय छोड़ो और निर्भय होकर जैसे धर्म की रक्षा हो वैसा प्रयत्न करो।

विधवा बहिनों से भी मेरा यही कहना है कि अब परमेश्वर से नाता जोड़ो। धर्म को अपना साथी बनाओ। संयम से जीवन व्यतीत करो। संसार के राग-रंगों को और आभूषणों को अपने धर्म पालन में विघ्नकारी समझ कर उनका त्याग कर दो। इसीमें आपकी प्रतिष्ठा है, इसीमें आपकी महिमा है। आप संसार की आदर्श त्यागशीला देवियाँ हैं। आपको गृहस्थी के ऐसे प्रपंचों से दूर रहना चाहिए, जिनसे आपके धर्म-पालन में बाधा पहुँचती है।

आज भारत का दुर्भाग्य है कि छोटी छोटी बातों के लिए भी उपदेश देना पड़ता है। साधुओं को पति-पत्नी के झगड़े में पड़ने की क्या आवश्यकता है? सामान्य धर्म का नाश होते देख कर के भी विशेष धर्म के पालन का उपदेश देना थोथा धर्माडम्बर है। सामान्य धर्म का भलीभाँति पालन होने पर ही विशेष-धर्म का पालन हो सकता है। सामान्य धर्म के अभाव में विशेष धर्म का पालन होना संभव नहीं है।

पृथ्वीसिंहजी साहब! आज जनता में भयंकर रोग घुसे हुए हैं।

आप बीकानेर नरेश के संबंधी हैं, अतएव आपसे यह कह देना उचित है कि आप लोगों पर इन रोगों की चिकित्सा का बड़ा भारी उत्तरदायित्व है। अगर लोग धर्म के कानून को न मानें तो आप लोगों को चाहिए कि राजकीय कानून बना कर इन रोगों का मुंह काला करें। बालविवाह और वृद्धविवाह इन रोगों में प्रधान हैं। इन रोगों की बदौलत अन्य बहुत से रोग उत्पन्न होते हैं। इनसे आपकी प्रजा का घोर पतन हो रहा है। आपके राज्य की शोभा वीर प्रजा से है, न कि निर्बल प्रजा से।*

महाराज हरिश्चन्द्र का धर्म-मर्यादा का पालन कौन नहीं जानता? जिस समय राजा हरिश्चन्द्र, महारानी तारा और कुमार रोहिताश्व राज्य त्याग कर जाते हैं, उस समय समस्त नर-नारियाँ आँसू बहाती हैं। स्त्रियाँ रानी से कहती हैं—महारानीजी, आप कहाँ पधारती हैं? आप हमारे घर में टिकिये। यह आप ही का घर है।

महारानी उत्तर देती हैं—'बहिनो! आपके आँसू, आँसू नहीं, वरन मेरे धर्म का सत्कार है। यह आँसू मेरे पतिव्रत धर्म का अभिषेक हैं। अगर मैं राजसी ठाठ के साथ राजमहल में विराजी रहती तो मेरे साथ आपकी इतनी सहानुभूति न होती। बहिनो! यदि आप मेरे प्रति सच्ची सहानुभूति रखती हैं तो आप भी अपने घरमें सच्चे धर्म की स्थापना कीजिए।'

मित्रो! आपने महारानी तारा के वचन सुने? वह धर्म की रक्षा के लिए कितने हर्ष के साथ राजपाट त्याग कर रही है? इसे

* बीकानेर राज्य में बाल-विवाह और वृद्ध-विवाह के विरुद्ध राजकीय कानून बन गया है। पूज्यश्री के सदुपदेश को इसका श्रेय प्राप्त है।

कहते हैं वैराग्य ! लाखों करोड़ों के आभूषण पहनने वाली महारानी तारा ने ठीकरों की तरह उन्हें उतार कर फैंक दिया और मनमें तनिक भी मलीनता न आने दी। आप सामायिक करते समय पगड़ी तो उतारते हैं पर कभी दो घड़ी के लिए अभिमान भी उतारते हैं ? अगर नहीं, तो आप वैराग्य का अर्थ कैसे समझ सकते हैं ?

हरिश्चन्द्र की समस्त प्रजा विश्वामित्र को कोस रही थी। हरिश्चन्द्र चाहते तो अपने एक ही इशारे से कुछ का कुछ कर सकते थे। मगर नहीं। उन्होंने प्रजा को आश्वासन दिया कि—घबराओ नहीं। धर्म का फल कटुक कभी नहीं हो सकता।

मित्रो ! आप लोग अपना 'पोजीशन' बनाया रखने के लिए झूठ, कपट, दगा, फाटका आदि करते हो मगर हरिश्चन्द्र की तरफ देखो। उसके पीछे तमाम प्रजा की शक्ति है, फिर भी धर्म का आदर्श खड़ा करने के लिए उसे राजपाट त्यागने में तनिक-सी भी हिचकिचाहट नहीं है। लोग दमड़ी-दमड़ी के लिए झूठ बोलने के लिए तैयार रहते हैं। उनमें ऐसी आस्तिकता कहाँ ?

राजा हरिश्चन्द्र दृढ़ आस्तिकता के कारण ही हजारों वर्ष बीत जाने पर भी आज हम लोगों के मनोमन्दिर में जीवित हैं। उनकी पवित्र कथा हमें धर्म की ओर इंगित कर रही है, प्रेरित कर रही है।

पृथ्वीसिंहजी साहब ! यदि आपके नगर में महाराज हरिश्चन्द्र आवें तो आप उन्हें क्या भेंट चढ़ाएँगे ?

पृथ्वीसिंहजी—'सभी कुछ महाराज !'

आप सभी कुछ चढ़ाने के लिए क्यों तैयार हैं ? उनके सत्य

को देख कर। क्या इस सत्य धर्म प्रजा में प्रतिष्ठा नहीं होनी चाहिए? सत्य के लिए वीरता की आवश्यकता है और वीरता वीर्य-रक्षा से आती है। आज प्रजा का वीर्य नष्ट हो रहा है। इसे रोक कर क्या आप प्रजा की रक्षा का श्रेय प्राप्त न करेंगे ?

प्यारे मित्रो ! यदि आप इन रोग-राक्षसों को पहचान गये हों तो इन्हें—बालविवाह और वृद्धविवाह को—तिलांजलि दीजिए और अपने दूसरे भाइयों समझाइए। अगर वे न समझें तो सत्याग्रह कीजिए। उनसे साफ शब्दों में कह दीजिए—अब हम ऐसे अत्याचार हर्गिज न होने देंगे।

धर्म के खातिर राजा हरिश्चन्द्र ने राज-पाट ही नहीं छोड़ा, पर विश्वामित्र को दक्षिणा चुकाने के लिए आप अपनी पत्नी सहित बिक गये। धर्म की रक्षा त्याग से होती है, तलवार से नहीं।

रामचन्द्रजी ने भी त्याग के द्वारा ही अपने धर्म की रक्षा की थी। वे चाहते तो स्वयं राज्य के स्वामी बन सकते थे। सभी लोग उनके पक्ष में थे, स्वयं भरत भी यही चाहते थे। पर रामचन्द्र राज्य के भूखे नहीं थे। वे संसार को जलाने वाली पाप की अग्नि बुझाना चाहते थे। उन्हें मालूम हुआ कि मेरे ही घर में ऐसा द्वैत फैल गया है। एक ही राजा के पुत्रों में भी ऐसी भिन्नता समझी जाने लगी तब यह आग संसार में कितनी न फैल रही होगी ? उसे शान्त करने के लिए राम ने राज्य का परित्याग किया। राम के इस त्याग से संसार सुधर गया। अकेली कैकेयी क्या सुधरी, समग्र भारत रूपी कैकेयी का सुधार होगया।

तलवार की शक्ति राक्षसों के लिए काम में आती है। दैवी प्रकृति वाली प्रजा में प्रेम ही अपूर्व प्रभाव डाल देता है।

मित्रो ! यूरोप और अमेरिका आदि किसी भी देश का इतिहास छान डालिए, पर हरिश्चन्द्र जैसे त्याग का दृष्टान्त आपको विश्व के इतिहास में नहीं मिलेगा।

ओह ! जिस समय रानी बाजार में बिकने के लिए खड़ी होती है, उस समय राजा तो मुंह से कुछ नहीं बोलते, पर रानी कहती है-'लो, मैं बिक रही हूँ। जिसकी इच्छा हो मुझे दासी बनाने के लिए खरीद लो।'

धन्य है महारानी तारा का त्याग ! ऐसी पतिव्रता, धर्मपरायणा रमणी आर्यावर्त्त को छोड़ कर और कहाँ उत्पन्न हो सकती है।

जिस समय रोहिताश्व का देहान्त होजाता है, उस समय महाराज हरिश्चन्द्र मरघट में अपने स्वामी-श्वपच-चांडाल-की आज्ञा के अनुसार कर (टैक्स) लेने के लिए बैठे थे। तारा रोहिताश्व को लेकर वहाँ आती है। राजा सामने आकर पैसा माँगता है। रानी कहती है—

'मुझसे पैसे माँगते हैं आप ?'

राजा—हाँ।

रानी—क्या आप मुझे भूल गये हैं ?

राजा—नहीं तारा, इस जीवन में तुम्हें कैसे भूल सकता हूँ।

रानी—तो आप मुझे इस कर से बरी नहीं कर सकते ?

राजा—तारा, यही करना होता तो राज्य क्यों त्यागता ? जब राज्य के लिए असत्य का आचरण न किया तो क्या एक टके के लिए सत्य गँवाना उचित होगा ?

रानी—टका तो मेरे पास है नहीं। यह साड़ी है, कहिए तो आधी फाड़ दूँ !

राजा—अच्छा, यही सही। एक टके की तो हो ही जायगी।

ज्यों ही रानी अपनी साड़ी फाड़ने को होती है त्यों ही आकाश से पुष्पवर्षा होने लगती है। इन्द्र आदि देवता उनकी सेवा में उपस्थित होते हैं। स्मशानभूमि स्वर्ग बन जाती है !

यह है सत्य-निष्ठा ! हरिश्चन्द्र में इतनी त्यागवृत्ति कहाँ से आई ? इसका उत्तर वही है, जो पहले कहा जा चुका है। अर्थात् लालसा का त्याग और नश्वर-अनश्वर का विवेक।

मित्रो ! भोग भोगते हुए भी अगर आपका अन्तरंग उनमें लिप्त न होगा तो यही शक्ति आपके भीतर भी आविर्भूत हो सकती है। फिर निस्सार पदार्थों को त्यागने में आपको कष्ट न होगा। आप परमानन्द प्राप्त करेंगे।

भीनासर }
११—६—२७ }
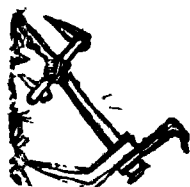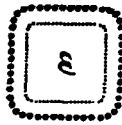
मनुष्यता

प्रार्थना

जय-जय जगत शिरोमणि, हूँ सेवक ने तूं धणी।
अब तैसों गाढ़ी बनी, प्रभु आशा पूरो हम तणी॥

आत्मा की उन्नति के लिए विवेक की आवश्यकता है। विवेक के बिना आत्मा की उन्नति नहीं हो सकती। यह बात कल भी मैंने बतलाई थी, परन्तु शायद ही उस पर आपने फिर मनन किया होगा। जो मनुष्य उत्तम विषयों को बार-बार मनन किया करता है उसकी आत्मा में अच्छी जागृति हो जाती है।

मित्रो ! जिस मनुष्य में विवेक नहीं होता, वह पशु से भी खराब है। मैं आपको एक विवेक की बात कहता हूँ। उससे आप सहज में समझ जाएँगे कि विवेक किसे कहा जाता है ?

कल्पना कीजिए, आप एक जंगल में खड़े हैं। वहाँ कई जानवर अपने से निर्बल पशुओं को चीर फाड़ कर खा रहे हैं। कई कई अपने विषैले स्वभाव से दूसरे प्राणियों के शिकार बन रहे हैं। बतलाइए, आप इन प्राणियों के समान हैं या जुदे हैं ?

'जुदे हैं !'

मित्रो ! इसी को अर्थात् वस्तु को विवेचना करने की शक्ति को विवेक कहते हैं। आपने उक्त प्रकृति वाले जानवरों की क्रिया को देख कर विवेचना कर ली कि—'मैं चीरफाड़ कर मांस खाने वाला सिंह, चीता आदि नहीं हूँ।' मैं विषमय दशन करने वाला सर्प आदि नहीं हूँ। मैं पशु-जगत् से दूसरे जगत का प्राणी—मनुष्य हूँ।' इस प्रकार आपने अपनी भिन्नता बतला दी, पर आपने यह भिन्नता नाम से बतलाई है या काम से ?

जो सूरत-शक्ल से मनुष्य हों पर लक्षणों में—कार्यों में पशु से भी गये-बीते हों, उन्हें क्या कहना चाहिए ? पशुओं से मनुष्य में क्या विशेषता होनी चाहिए, जिससे वह मनुष्य कहलाने का दावा रख सके ?

> आहारनिद्राभयमैथुनञ्च, सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।
> धर्मो हि तेषामधिको विशेषो, धर्मेण हीनः पशुभिः समानः ॥

अर्थात्—आहार करना, नींद लेना, भयभीत होना, मैथुन सेवन करना, यह सब बातें तो मनुष्यों और पशुओं में समान रूप से पाई

जाती हैं। इनके कारण मनुष्य, पशु से भिन्न-विशिष्ट नहीं बन सकता। मनुष्य में धर्म की विशेषता है। जो मनुष्य धर्महीन है वह पशुओं के ही समान है, क्योंकि उसमें ऐसी कोई बात नहीं पाई जाती जिससे वह पशुओं से भिन्न श्रेणी का साबित हो सके।

कोई यह कह सकता है कि हम पकवान और मिठाइयाँ खाते हैं, इसलिए पशुओं से बड़े हैं। पर यह कहना ठीक नहीं है। मधु-मक्खी शहद बनाती है और उसमें इतना अधिक मिठास रहता है कि कोई मिठाई उसकी बराबरी नहीं कर सकती। इसके अतिरिक्त उसमें ताकत देने वाले तथा दूसरे गुण इतने अधिक हैं कि खाने वाले को आश्चर्यचकित होना पड़ेगा।

अगर यह कहा जाय कि मिठाई बनाने में कारीगरी करनी पड़ती है, उसमें कला की आवश्यकता होती है, तो यह कथन भी असत्य है। मधुमक्खी की कारीगरी देखकर बड़े-बड़े वैज्ञानिक अचम्भे में पड़ गये हैं, मधुमक्खी अपने छत्ते में शहद भरने के लिए ऐसे छेद बनाती है कि उन में रञ्चमात्र भी अन्तर दिखाई नहीं देता। कुशल कारीगर की बनाई हुई चून्दड़ी के डिब्बों में अन्तर मिलेगा, चतुर सोनी के बनाये हुए घूंघरों में भी अन्तर पाया जा सकता है, परन्तु मधुमक्खी के बनाये हुए छेदों में अन्तर नजर नहीं आवेगा। मधुमक्खी ने ऐसी पैमायश किस शाला में सीखी? उसने यह ज्ञान कहाँ प्राप्त किया है, जिसके सामने बड़े-बड़े वैज्ञानिकों को नीचा देखना पड़ता है?

ऐ मनुष्यो! तुम अपनी कारीगरी के लिए क्यों ऐंठे फिरते हो? अभी तुम्हारे भीतर मधुमक्खी के बराबर कारीगरी तो आई ही नहीं है! और इतना ही क्यों मधुमक्खियों ने इन छेदों के अन्दर शहद

भरने के लिए, क्योंकि बिना सहारे शहद टिक नहीं सकता अतएव, मोम लगाया है। किन-किन द्रव्यों का अंश लेकर इन्होंने मोम बनाया है ? इन्हें किस रसायन शाला ने यह सिखाया है कि अमुक-अमुक द्रव्यों के सम्मिश्रण से मोम तैयार हो जाता है ?

फिर शहद इकट्ठा करके मधु मक्खियों ने कमाल ही कर डाला है। अनेक प्रकार के पुष्पों में से रस निकाल-निकाल कर शहद क्या कम कारीगरी है ? क्या साधारण-सा कौशल है ? नहीं। परन्तु मधुमक्खियों ने इतना ही नहीं किया उन्होंने एक बड़ा काम और भी किया है। वह यह है कि छेदों के भीतर ज्यादा से ज्यादा शहद भरना और उन में कम से कम मोम लगाना। मित्रो ! यह साधारण काम नहीं है। इस काम में उन्होंने अपने उत्कृष्ट कौशल की सीमा कर दी है। आप उसे ध्यानपूर्वक देखेंगे तो मधुमक्खियों का कौशल देख कर आपको दंग रह जाना पड़ेगा।

मधु-मक्खी में शहद उत्पन्न करने का सद्गुण है। अब आप अपनी ओर दृष्टि दौड़ाइये। सोचिए, आप में ऐसा कौन-सा सद्गुण है जो शहद की बराबरी कर सकता हो ?

आपमें मिठाई बनाने की कला है पर वह पराधीन। मधुमक्खी में मधु तैयार करने की कला है। इतना होने पर भी अगर आप मूंछें मरोड़ कर अकड़ कर दिखाते फिरें और मनुष्य होने का अभिमान करें तो यह कहाँ तक उचित कहा जा सकता ?

आपके पकवान शहद के सामने तुच्छ हैं। आपकी कारीगरी मक्खी की कारीगरी के आगे नाचीज़ है। फिर आप सोचिए कि आप मधुमक्खी से आगे बढ़े हुए हैं या पिछड़े हुए हैं ?

ऐसी स्थिति में स्वभावतः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि मनुष्य मक्खी से बड़ा कैसे है? इस प्रश्न पर गौर से विचार करना चाहिए। मक्खी यह कारीगरी आज से नहीं वरन् न जाने कब से कर रही है। फिर भी उसने अपने कार्य में कुछ भी परिवर्त्तन नहीं किया। वह जैसा पहले करती थी वैसा ही आज भी कर रही है। उसका यह विज्ञान जड़-विज्ञान है। इससे विपरीत मनुष्य अपने विज्ञान को बढ़ा सकता है। वह नित्य नवीनता ला सकता है। मनुष्य मधुमक्खी के ही नहीं, वरन् सारी सृष्टि के विज्ञान को अपने मस्तिष्क में भर सकता है। मस्तिष्क शक्ति की विशिष्टता के कारण मनुष्य मधुमक्खी से बड़ा है।

मनुष्य के विज्ञान ने घड़ी, रेल, बिजली, वायुयान, बेतार का तार आदि अनेक अन्वेषण किये हैं। मानवीय विज्ञान की बदौलत, अमेरिका प्रेसीडेन्ट के अमेरिका में होने वाले भाषण को आप घर बैठे अनायास ही सुन सकते हैं। यहाँ की प्रधान अभिनेत्री के नृत्य-कला के हावभाव आप घर बैठे देख सकते हैं। इस विज्ञानशाला ने कइयों की आँखें खोल दी हैं। पहले अग्नि भोजन बनाने के काम आती थी और पानी का प्रायः पीने में प्रधान उपयोग होता था। पर अब उसकी सहायता से ऐसे-ऐसे काम किए जाते हैं कि उन्हें देखकर और सुन कर आश्चर्य का पार नहीं रहता। पानी से बिजली निकाली जाती है और वह आपके घरों को जगमग-जगमग कर देती है। साथ ही और भी सैकड़ों काम आती है।

मनुष्य ने कितनी बड़ी उन्नति कर ली? मनुष्य के सिवाय दूसरा कोई प्राणी ऐसा कर सकता है? क्या मनुष्येतर प्राणी में विज्ञान के इस चमत्कार को समझने की भी शक्ति है? नहीं।

पर हमें इस मानवीय उत्कर्ष पर सूक्ष्म विचार करना चाहिए। यह मानवशक्ति दैवी शक्ति नहीं है। यह मांत्रिक शक्ति भी नहीं है। यह यांत्रिक शक्ति है। इस शक्ति से मनुष्य के सुख में वृद्धि हुई या दुःख में? इसकी बदौलत मनुष्य स्वतंत्र बना है या परतंत्र?

मैं आपसे एक प्रश्न करता हूँ। बताइए, बिजली बड़ी है या आपके घर का दीपक बड़ा है?

मित्रो! इस बिजली ने तुम्हारे घर का दीपक हटाकर घर की मंगल महिमा का हरण कर लिया है। बिजली के प्रताप ने तुम्हारी आँखों का तेज हर लिया है। इसकी बदौलत मनुष्य को इतनी अधिक क्षति पहुँची है कि उसकी पूर्त्ति होना बहुत कठिन है। बिजली तथा इसी प्रकार की अन्य जड़ वस्तुओं से आपको बहुत हानि पहुँची है। इन वस्तुओं ने आपके सुख को सुलभ नहीं बनाया।

आधुनिक विज्ञान की आलोचना करने का समय नहीं, फिर भी इतना तो कहना ही पड़ेगा कि विज्ञान के राक्षसी यंत्रों ने विकराल विध्वंस की सृष्टि की है। विज्ञान की कृपा से ही आज संसार त्रस्त है। जगत् में हाय हाय की गगन को गुंजित करने वाली ध्वनि सुनाई पड़ रही है, दुःखियों का जो करुण चित्कार कर्णगोचर हो रहा है, भुखमरों का जो रोदन सुनाई दे रहा है, यह सब विज्ञान की विरुदावली का बखान है। जिनके कान हैं वे इस विरुदावली को सुनें और विज्ञान की वास्तविकता पर विचार करें।

कहने का आशय यह है कि मनुष्य की वैज्ञानिक प्रगति उसके मस्तिष्क की महिमा को भले ही प्रकट करती हो, पर उससे मनुष्य की मनुष्यता जरा भी विकसित नहीं हुई। जो विज्ञान मनुष्य की मनुष्यता नहीं बढ़ाता, बल्कि उसे घटाता है और पशुता की वृद्धि

करता है, उसी विज्ञान की बदौलत मनुष्य अपने आपको पशुओं से विशिष्ट—उच्च श्रेणी का मानता है ! इसे अगर मनुष्यता का दिवाला कहा जाय तो क्या अनुपयुक्त होगा ? इससे या तो मनुष्यता का मूल्य घटता है या फिर पशुता का मूल्य बढ़ जाता है—दोनों के बीच की दीवाल गिर पड़ती है।

आपने लक्ष्मी प्राप्त कर ली, अधिकार आपके हाथ में आ गया, लेकिन इनसे क्या कर लिया ? क्या आपने अपने दो हाथों के बदले चार हाथ बना लिए ? क्या आपकी पाँच इन्द्रियों की जगह छह इन्द्रियाँ हो गईं ? अगर नहीं, तब आपने क्या किया ? पुराणों में शिव के तीन नेत्र माने गये हैं। लोग शिव की पूजा करते हैं। पर शिव की जड़-मूर्त्ति की पूजा करके बैठ रहे और शिव के तृतीय नेत्र की तरह अपने अन्दर दिव्य-ज्ञान रूपी नेत्र पैदा न कर सके तो वह पूजा निरर्थक समझी जायगी। शिव की सच्ची पूजा है—स्वयं शिव-स्वरूप-कल्याणमय बन जाना।

जो लक्ष्मी प्राप्त करके, ऋद्धि, सम्पत्ति और अधिकार पा करके भी दिव्य-ज्ञान रूप तृतीय नेत्र प्राप्त करके शिव-रूप न बना, उसकी लक्ष्मी बिल्कुल व्यर्थ है, उसका अधिकार धिक्कार योग्य है और उसकी समस्त ऋद्धि-सम्पत्ति उसी का नाश करने वाली है।

आप में से कई-एक आदमी सोचते होंगे कि मैं उनके धन की निन्दा कर रहा हूँ। मैंने उनकी ऋद्धि के प्रति अपना घृणाभाव प्रकट किया है। पर मित्रो ! बात ऐसी नहीं है। यद्यपि यह सच है कि मेरी निगाह में धन का अपने आप में कोई मूल्य नहीं है, तथापि अभी मैं जो कुछ कह रहा हूँ वह यह कि सच्चा धन, सच्ची लक्ष्मी, वही है जिससे मनुष्य त्रिनेत्रधारी शिव-शंकर–कल्याण-कर्त्ता–बन जाय।

आप कहेंगे—धनवान या लक्ष्मीवान् भी कभी शिव बन सकता है ? मैं कहता हूँ—क्यों नहीं ? ऋद्धि के सागर में बैठे हुए बहुतों ने शिवत्व प्राप्त किया था। चक्रवर्ती भरत ने और माता मरुदेवी ने कहाँ शिवत्व पाया था ? फिर इस शंका को अवकाश ही कहाँ है ?

जिस मनुष्य ने नित्यानित्य का विवेक प्राप्त कर लिया है, हृदय के भीतर ज्ञान-पूर्वक वैराग्य जगा लिया है, वह घर में बैठा हुआ भी शिवत्व प्राप्त कर लेता है।

इससे विपरीत, जिसके हृदय में भोग-लालसा नृत्य करती रहती है, जो काम, क्रोध आदि का शिकार बन कर सिंह, सर्प आदि की तरह समय-समय पर क्रूरता प्रकट करता रहता है, वह भले ही साधु के वेष में हो, फिर भी निन्दनीय है। क्रोधी और कामी मनुष्य अपनी आत्मा का हनन करता है और दुःख का भागी होता है।

जब मैं बचपन में, संसार-अवस्था में था, तब श्री धर्मदासजी महाराज के शिष्य श्री गिरधारीलालजी महाराज के प्रति मेरी गुरु-आम्नाय थी। उन्होंने मुझ से एक बात कही। वह यह थी—

दो चिड़ियाएँ आपस में लड़ने लगीं। उनमें इतनी उग्र लड़ाई हुई कि एक-दूसरी की चोंच में चोंच डाल कर, क्रोध में पागल होकर दोनों आपस में उलझती हुई नीचे आ गिरीं। न वह उसकी चोंच छोड़े, न वह उसकी। दोनों एक-दूसरी को पकड़ कर फँसी रहीं। इस प्रकार बहुत देर हो गई। आखिर एक कुत्ता वहाँ आया। उसने अपने पंजे का झपट्टा मारा। दोनों के प्राण-पखेरू उड़ गये।

मित्रो ! बात साधारण है, छोटी-सी जान पड़ती है। पर इसके रहस्य का विचार कीजिए। बताइए उन चिड़ियों के मरने में दोष किसका है ? मृत्यु के लिए कुत्ता जिम्मेवार है या वे स्वयमेव ?

'वे स्वयमेव !'

क्यों ! उन चिड़ियों ने ऐसा कौन-सा काम किया, जिसके कारण उन्हें दुःख भोगना पड़ा ? मित्रो ! प्रकृति का नियम निराला है। उस नियम को कोई तोड़ नहीं सकता।

विचार कीजिए, क्या उन चिड़ियों को घर बाँटना था ? क्या उन्हें धन-दौलत का बँटवारा करना था ? असीम आकाश में स्वच्छन्द विचरण करने वाली चिड़िया, कुत्ते की क्या बिसात, क्या शेर के भी हाथ आ सकती है ? फिर वह दोनों कुत्ते के द्वारा कैसे मारी गई ! क्रोध के कारण। क्रोध ने उनका नाश कर डाला। अगर वे क्रोध में पागल होकर अपना आपा न भूल गई होतीं तो कुत्ते की क्या मजाल कि वह उनकी परछाई भी पा सके।

भाइयो और बहिनो ! आपने चिड़ियों के मरने का कारण समझ लिया। आप उन्हें यह उपदेश देने के लिए भी तैयार हो गये कि क्रोध कभी नहीं करना चाहिए। पर आप इस उपदेश पर स्वयं भी अमल करते हैं ? मैं बहिनों से पूछता हूँ—बहिनो ! तुम तो कभी ऐसा क्रोध नहीं करतीं ?

आपकी तरफ से कोई उत्तर नहीं मिल रहा है। पर मुझे मालूम है कि अगर आप क्रोध न करती तो सास-बहू, ननद-भौजाई एवं देवरानी-जिठानी में कभी लड़ाई न होती। घर-घर कलह के अड्डे न बने होते और आपका पारिवारिक जीवन कुछ का कुछ होता।

बहिनो ! इस कुचाल को छोड़ो। यह कुचाल तुम्हारे विवेकरूपी पंख को तोड़ डालेगी। जिस प्रकार पंखों के बिना पक्षियों का सुख-पूर्ण स्वच्छन्द विहार नहीं हो सकता, उसी प्रकार विवेक के नष्ट होने पर तुम्हारा मोक्ष-रूप आकाश में क्रीड़ा करना असम्भव हो जायगा। क्रोध महा-भयंकर पिशाच है। इस से सदा दूर रहा करो।

भाइयो और बहिनो ! यह बात मैंने अपने मन से बनाकर नहीं कही है। इसका विचार शास्त्र में आया है। गीता में भी इसकी अच्छी विवेचना की गई है।

इस महान् शत्रु के प्रताप से जीवों को अनेक बार चौकड़ी भरनी पड़ती है। तीर्थंकर क्रोध तथा इसके भाई-बन्द अन्य दुर्गुणों का समूल उन्मूलन करते हैं। इसी कारण वे 'ईश्वर' कहलाते हैं। आपकी आत्मा अनन्त गुणों की राशि है। उसमें अपरिमित गुण-रत्न भरे पड़े हैं। फिर भी आप उन गुणों को उपलब्ध नहीं कर पाते। इतना ही नहीं आप उन गुणों को पूरी तरह पहचान भी नहीं पाते हैं। अपनी चीज़, अपने भीतर विद्यमान है, अपने द्वारा ही उसकी उपलब्धि होती है, फिर भी उसे आप नहीं जान पाते। यह कितनी दयनीय दशा है ? जानते हो, इसका कारण क्या है ? इसका एकमात्र कारण क्रोध आदि विकार हैं। विकारों ने आत्मा के स्वाभाविक गुणों को इस प्रकार आच्छादित कर रक्खा है कि आपकी दृष्टि वहाँ तक पहुँच ही नहीं पाती। जिस दिन आपकी दृष्टि ऐसी तीक्ष्ण बन जायगी कि आप विकारजन्य आच्छादन को वेध डालेंगे, उसी दिन आपको अपना खज़ाना नज़र आने लगेगा। वह खज़ाना इतना मोहक, आकर्षक एवं अद्भुत होगा कि फिर उसके आगे तीनों लोकों की समस्त सम्पदा आपको नगण्य जान पड़ेगी।

भाइयो, घर का अमृत छोड़ कर बाहर विष पीने क्यों दौड़ते हो ? देखो, इन विकारों ने तुम्हें कैसी विपन्न दशा में पटक रक्खा है ! यह विकार भाई को भाई से लड़ाते हैं, सास-बहू का झगड़ा करवाते हैं, पिता-पुत्र में वैर-भाव उत्पन्न करते हैं। धर्म-धर्म में सिर फुटौवल करवाते हैं, एक दूसरे के प्रति विषवमन कराते हैं। यह विकार आपको शिव नहीं बनने देते। ऐसे महान् शत्रुओं का नाश करना, आपका सब से पहला कर्त्तव्य है।

मित्रो ! तुमने मनुष्य-जन्म पाया है। स्मरण रक्खो, यह जन्म सरलता से नहीं मिलता। न जाने कितने भव धारण करने के बाद कौन-कौन-सी भयंकर यातनाएँ भुगतने के पश्चात्, कौनसे प्रबल पुण्य के उदय से यह जन्म तुम्हें मिल पाया है। अगर यह यों ही व्यतीत हो गया—विकारों से ग्रस्त रहकर इसे वृथा बर्बाद कर दिया, तो कौन जाने फिर कब ठिकाना लगेगा ?

अगर आपके पास धन है तो उसे परोपकार में लगाओ। यह धन आपके साथ जाने वाला नहीं है। इस धन के मोह में मत पड़ो। यदि इसके मोह में पड़ गये तो आपको मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकेगा।

ईशु के पास एक आदमी आया। उसने कहा—आपने स्वर्ग का द्वार खोल दिया है। मैं स्वर्ग में जाना चाहता हूँ। मुझे वहाँ भेज दीजिए।

ईशु—तुम स्वर्ग में जाना चाहते हो ?

आगन्तुक—जी हाँ।

ईशु—जाना चाहते हो ?

आग०—जी।

ईशु—जरा सोच लो। जाना चाहते हो?

आग०—खूब सोच लिया। मैं स्वर्ग जाना चाहता हूँ।

ईशु—अच्छा, सोच लिया है तो अपने घर की तिजोरियों की चाबी मुझे दे दो।

आग०—ऐसा तो नहीं कर सकता।

ईशु—तो जाओ, तुम स्वर्ग नहीं जा सकते।

सुई के छेद में से ऊँट का निकल जाना कदाचित् सम्भव हो, पर कंजूस धनवानों का स्वर्ग में प्रवेश होना नितान्त असम्भव है।

मित्रो! मनुष्य होकर मनुष्यता सीखो। धन का मोह छोड़ो। काम-क्रोध से नाता तोड़ो। अपने जीवन को परोपकार में लगाओ। तभी आप महावीर के सच्चे शिष्य कहलाओगे और कल्याण के भागी बनोगे।

भीनासर
१२—६—२७.

ज़हरीली जड़
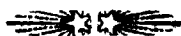
समुद्रविजय-सुत श्रीनेमीश्वर, जादव कुल को टीको ।
रतन-कूँख धारिणी 'सिवादे', तेह नो नन्दन नीको ॥
श्री जिन मोहनगारो छे, जीवन प्राण हमारो छे ॥
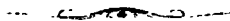
शरीर में आठ अंग माने गये हैं और शेष अवयव उपांग कहलाते हैं। यह अंग शरीर के ही हिस्से हैं। शरीर से सर्वथा भिन्न अस्तित्व इनका दृष्टिगोचर नहीं होता। इसी प्रकार सम्यक्त्व के आठ अंग हैं। यह आठ अंग भी सम्यक्त्व से सर्वथा भिन्न नहीं हैं। लेकिन आज उन आठ अंगों में से दूसरे अंग पर ही विचार करना है।

'कंखा' अर्थात् कांक्षा या अभिलाषा अथवा इच्छा करना सम्यक्त्व का दोष है और कांक्षा न करना सम्यक्त्व का अंग है।

सर्व प्रथम यह प्रश्न उपस्थित होता है कि संसार में ऐसा कौन सा छद्मस्थ जीव है, जिसे किसी न किसी प्रकार की कांक्षा न हो? जिस पुरुष को किसी प्रकार की कांक्षा नहीं होती वह छद्मस्थ नहीं, वरन् वीतराग है। छद्मस्थ को तरह-तरह की कांक्षाएँ होती हैं। परन्तु मैं यहाँ सिर्फ धार्मिक मर्यादा में विचार करना चाहता हूँ।

मान लीजिए, एक पुरुष ने विधि सहित एक कन्या के साथ विवाह किया। थोड़े ही दिनों बाद उस स्त्री को त्याग कर बिना उसकी स्वीकृति के वह वैराग्य धारण करने की इच्छा करे तो मानना चाहिए कि वह पुरुष अपने लग्न-संबंध पर पानी फेर रहा है। उसने स्वेच्छा से जो उत्तरदायित्व अपने सिर पर ओढ़ा है उससे वह किनारा काटना चाहता है। अपनी धर्मपत्नी को उसने जो विश्वास दिलाया है, उसे भंग करने की चेष्टा कर रहा है। अगर उसे वैराग्य लेना ही था तो उसे विवाह नहीं करना चाहिए था। विवाह-संबंध में बँध जाने और स्त्री को उसमें बाँध लेने के पश्चात्, असमय में, पत्नी की स्वीकृति लिए बिना वैराग्य की कामना करना उचित नहीं है। हाँ, पुरुष विवाह-संबंध को दवाई के रूप में समझ कर धीरे-धीरे निःकांक्ष होने की सद्-भावना अवश्य रक्खे। बड़ी-बड़ी स्त्रियों ने पतियों के साथ रह कर स्त्री का आदरणीय पद प्राप्त किया है और बड़े-बड़े पुरुष स्त्रियों के साथ रह कर उत्तम पुरुष कहलाने के योग्य बने हैं।

मेरे इस कथन को सुन कर कदाचित् आपको जम्बूस्वामी का स्मरण आ जाए और आप सोचने लगें कि उन्होंने विवाह के दूसरे दिन ही अपनी आठ नवविवाहिता पत्नियों का त्याग कर मुनि-दीक्षा धारण कर ली थी। यह जानते-बूझते भी मैं यह बात कैसे कह रहा हूँ? मगर मैं आपको इतना स्मरण और करा देना चाहता हूँ कि

जम्बूस्वामी ने अपनी गृहस्थावस्था में, विवाह का प्रस्ताव उपस्थित होने पर अपनी स्थिति स्पष्ट कर दी थी। उन्होंने कन्याओं को और उनके पिताओं को स्पष्ट रूप से बतला दिया था कि मैं गृहस्थावस्था में रहना नहीं चाहता। मुझे दूसरे दिन ही जैनेन्द्री दीक्षा धारण कर लेनी है। यह सब कुछ जानते-बूझते कन्याओं ने जम्बूकुमार के साथ विवाह-संबंध स्वीकार किया था। अतएव मैंने ऊपर जो कुछ कहा है, जम्बू-चरित से उसमें कुछ भी बाधा उपस्थित नहीं होती। जम्बूकुमार ने किसी को धोखा नहीं दिया, किसी को भुलावे में नहीं रक्खा, उन्होंने पहले ही बात साफ़ कर दी थी।

बात यह है कि धर्म की नींव नीति है। नीति के बिना धर्म की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। जो पुरुष या स्त्री नीति को भंग करेगा वह धर्म को दीप्त नहीं कर सकता। अतएव जिस क्रिया से नैतिक मर्यादा का उल्लंघन होता है वह क्रिया धर्म-संगत कैसे मानी जा सकती है?

अब यह विचार करना है कि सम्यग्दृष्टि पुरुष को किस वस्तु की कांक्षा नहीं करनी चाहिए? सम्यक्त्व धारण करने वाले को बतलाया जाता है कि स्वधर्म के देव, गुरु के सिवाय अन्य धर्म के देव और गुरु की कांक्षा नहीं करनी चाहिए। जो ऐसी कांक्षा करता है उसे दोष लगता है।

प्रश्न उठता है—स्वधर्म क्या? अपने-अपने धर्म की हर एक बड़ाई करता है। सब कहते हैं—हमारे धर्म को मानो, हमारे गुरुओं को वन्दन करो और किसी दूसरे को मत मानो। गीता में भी कहा है—

'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।'

अर्थात्—स्वधर्म में रहते हुए मृत्यु का आलिंगन करना श्रेयस्कर है, मगर परधर्म भयंकर है।

जब तक स्वधर्म और परधर्म का ठीक-ठीक निर्णय न हो जाय, तब तक वस्तु-तत्त्व समझ में नहीं आ सकता। अतएव सर्व प्रथम यही निश्चित् करना चाहिए कि वास्तव में स्वधर्म से क्या अभिप्राय है और परधर्म का क्या आशय है ?

धर्म के दो भेद हैं—एक वर्णधर्म और दूसरा आत्मिक धर्म। अगर धर्म के इस प्रकार भेद न किये जाते और धर्म का वर्गीकरण करके उसके स्वरूप को न समझा जाता तो अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता।

जैसा कि अभी कहा गया है, गीता का कथन है कि यदि अपने धर्म में कुछ कठिनाइयाँ हों और दूसरे के धर्म में सरलता दिखलाई देती हो तो भी परधर्म को न अपना कर अपने धर्म के लिए प्राण दे देने चाहिए। क्या इसका मतलब यह है कि एक शराबी शराब पीना अपना धर्म समझता है, शराब के बिना उसका काम नहीं चलता, तो इसके लिए उसे मर जाना चाहिए ? क्या इसका अर्थ यह समझा जाय कि अगर किसी पुरुष ने पर-स्त्री के साथ मौज-मज़ा उड़ाने में धर्म समझ लिया हो, उसके बिना उसे चैन न पड़ती हो, तब कोई इस दुष्कर्म से छुड़ाने की कोशिश करे तो उसे मर जाना चाहिए ? नहीं, इसका यह अर्थ नहीं है। राजा प्रदेशी को, जिसके हाथ सदा खून से रंगे रहते थे और जिसने जीव-हिंसा करना ही अपना धर्म मान लिया था, क्या मुनि के उपदेश से हिंसा का त्याग नहीं करना चाहिए था ? तब स्वधर्म के लिए प्राण तक न्यौछावर कर देने का आशय क्या है ?

मैंने जहाँ तक इस श्लोक पर विचार किया है तथा अन्य विद्वानों के विचार सुने हैं, उससे यही प्रतीत हुआ है कि यहाँ धर्म शब्द का संबंध वर्णाश्रम धर्म के साथ है। अपने वर्णधर्म पर डटे रहने का यहाँ प्रतिपादन किया गया है।

मित्रो! वर्णाश्रमधर्म के विषय में यदि ऐसा कड़ा उपदेश न दिया जाता तो संसार की व्यवस्था ठीक न रहती। ब्राह्मण को ब्राह्मणधर्म पर, क्षत्रिय को क्षत्रियधर्म पर, वैश्य को वैश्यधर्म पर और शूद्र को शूद्रधर्म पर कायम रहना चाहिए। इस कथन से यह आशय नहीं निकालना चाहिए कि ब्राह्मण का धर्म विद्याध्ययन करना है, इसलिए क्षत्रिय को विद्याध्ययन से बच कर अशिक्षित ही रहना चाहिए। तथा क्षत्रिय का धर्म वीरता धारण करना है अतएव ब्राह्मण को निर्बल एवं कायर रहना चाहिए। वैश्य का धर्म व्यापार करना है और शूद्र का सेवा करना। पर इसका अर्थ यह नहीं कि वैश्य की स्त्री को कोई अपहरण कर ले जाय तो वह वीरता के अभाव में मुंह ताकता खड़ा रहे या शूद्र विद्या के सर्वथा अभाव के कारण यथोचित सेवाधर्म का पालन ही न कर पावे।

मित्रो! याद रक्खो, प्रत्येक मनुष्य में चारों गुणों का होना अत्यावश्यक है। उनके बिना जीवन का यथोचित निर्वाह नहीं हो सकता। अब यह शंका होती है कि अगर प्रत्येक वर्ण वाले में चारों वर्ण वालों के गुण विद्यमान होना आवश्यक है तो वर्णाश्रम धर्म किस प्रकार निभेगा? इसका समाधान यह है कि प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक काम में प्रवीण नहीं होता। वह किसी एक कार्य में ही विशिष्ट योग्यता और सफलता प्राप्त कर सकता है। इसी आधार पर वर्णों का निर्माण किया गया है।

चारों वर्ण विराट पुरुष का स्वरूप है। अर्थात् समस्त मानव-प्रजा चार वर्णों में विभक्त है फिर भी सामान्य की अपेक्षा मनुष्य जाति एक ही है।

मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मोदयोद्भवा।

अर्थात्-जाति नाम कर्म के उदय से मनुष्य जाति एक-अखण्ड है।

जब तक भारतवर्ष में वर्ण व्यवस्था ठीक रही तब तक उसे किसी प्रकार का कष्ट नहीं भोगना पड़ा। पर जब से एक मस्तक में कई मस्तक हुए, हाथों में से कई हाथ निकल पड़े अर्थात् ब्राह्मणों में कई-एक उपजातियाँ खड़ी हो गईं, क्षत्रियों में अनेक शाखाएँ और प्रशाखाएँ बन गईं, वैश्यों में विभिन्न जातियों की उत्पत्ति हुई और शूद्र वर्ण विविध हिस्सों में विभक्त हो गया, तभी से देश की हीन अवस्था आरंभ हुई और धर्म के कर्म नष्टभ्रष्ट हो गये। 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' इसी अव्यवस्था को सुधारने के लिए कहा गया था। इसी गड़बड़ को मिटाने के लिए आचार्य जिनसेन ने राजाओं को सलाह दी थी कि अगर कोई वर्ण वाला अपने कर्त्तव्य-धर्म को अतिक्रमण करके अन्य धर्म का आचरण करे तो राजा को उसे रोक देना चाहिए, अन्यथा वर्णसंकरता फैल जायगी।

गीता का स्वधर्म संबंधी कथन आत्मिक धर्म के लिए लागू नहीं हो सकता, क्योंकि नीच से नीच चाण्डाल तक के लिए आत्मधर्म की आराधना का और मोक्ष का दरवाजा सदा खुला रहता है।

भाइयो! मैं कांक्षा के विषय में कह रहा था। फिर उसी पर आ जाइए। मान लीजिए एक क्षत्रिय युद्ध में लड़ने गया। वहाँ उसने कुछ कठिनाइयाँ देखी तो बनिया बन जाने की कांक्षा करता है। वह

विचारता है—'बनिया बन जाऊँगा तो मौत की आजीविका से बच सकूंगा और आराम से जीवन बिता सकूंगा। इस प्रकार की कांक्षा नीच कांक्षा है। ऐसी कांक्षा कभी नहीं करना चाहिए।' उसे गीता के विधान का स्मरण करते हुए अपने कर्त्तव्य पर, अपने धर्म पर हँसते हँसते, प्राण न्यौछावर कर देने चाहिए।

जिस समय वीर अर्जुन को रण में लड़ने के समय त्यागी ब्राह्मण बनने की कांक्षा हुई, तब श्रीकृष्ण ने कहा—

क्लैब्यं मास्म गमः पार्थ। नैतत्

क्षुद्र हृदयदौर्बल्यं, त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप!

हे पार्थ! इस क्लीबता—नपुंसकता को हटाओ। तुम सरीखे बहादुर क्षत्रिय के लिए यह शोभा नहीं देती। हृदय की क्षुद्र दुर्बलता का त्याग करके तैयार हो जाओ।

मित्रो! वर्णाश्रम धर्म की गड़बड़ी से ही आज भारत दीन, विपन्न और गुलाम बन गया है। जो भारत अखिल विश्व का गुरु था और सब को सभ्यता सिखाने वाला था, आज वह इतना दीन-हीन हो गया है कि आध्यात्मिक विद्या की पुस्तकें जर्मनी से मँगाता है, युद्ध-सामग्री के लिए अमेरिका के प्रति याचक बनता है, नीति और धर्म की पुस्तकों के लिए इंग्लेण्ड के सामने हाथ पसारता है। और तो और, सुई जैसी तुच्छ चीज़ के लिए भी वह विदेशियों का मुंह ताकता है। इसका क्या कारण है?

कई भाई सोचते होंगे कि महाराज शास्त्र की बातें छोड़ कर संसार की चर्चा क्यों करते हैं? मित्रो! मैं इस प्रकार की आशंका का स्पष्टीकरण कई बार कर चुका हूँ। आप लोग गृहस्थ हैं।

गृहस्थ-धर्म की शिक्षा देना साधु का कर्त्तव्य है। आप अभी साधु बनने के लिए तो मेरे पास आये नहीं हैं, तब क्या आपको आपका धर्म बतलाना अनुचित होगा ?

मैं प्रधान मन्त्री से पूछता हूँ—क्या प्रधान मंत्री (सर मनूभाई मेहता) मेरे पास संन्यास ग्रहण करने की शिक्षा के लिए आये हैं ?

(प्रधान मंत्री ने गर्दन हिलाते हुए सूचित किया—नहीं !)

आपके धर्म के अनुसार तो आपकी उम्र संन्यास धारण करने की हो गई है। फिर क्या बात है ?

यही कि आप संन्यास ग्रहण करने की इच्छा नहीं रखते। आप गृहस्थ रहना चाहते हैं। तो मुझे यह बतलाना ही चाहिए कि गृहस्थ धर्म क्या है ? गृहस्थ का कर्त्तव्य न जानोगे तो आगे कदम बढ़ना भी कठिन हो जायगा। यह बात भूल नहीं जाना चाहिए कि प्रत्येक काम में धर्म रहा हुआ है, अगर उसे उपयोग के साथ—यतनापूर्वक किया जाय।

एक बाबाजी थली की ओर आ निकले। जंगल का मामला था। बाबाजी को भूख और प्यास सता रही थी। ऊपर से सूरज अपनी कठोर किरणें फैंक रहा था। पर विश्रान्ति के लिए न कहीं कोई वृक्ष आदि दिखाई दिया और न पानी पीने के लिए जलाशय ही नज़र आया। बाबाजी हाँफते—हाँफते कुछ और आगे बढ़े। थोड़ी दूरी पर, रेतीले टीलों पर तरम्बे के फल की बेल दिखाई दी। बाबाजी पहले कभी इस ओर आये नहीं थे। इस कारण इसके गुणों और दोषों से अनभिज्ञ थे। बाबाजी इन बेलों के पास आये और पीले पीले सुन्दर फल देखे तो बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने सोचा—अब इनसे मैं अपनी भूख मिटाऊँगा।

बाबाजी ने एक फल तोड़ा और मुंह में डाला। जीभ से स्पर्श होते ही उनका मुंह जहर सा कडुवा हो गया। उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। देखने में जो फल इतना सुन्दर है, उसमें इतना कडुवापन! मगर वे धुन के पक्के थे। उन्होंने सोचा—देखना चाहिए, फल में कटुकता कहाँ से आई है? कटुकता की परीक्षा करने के लिए बाबाजी ने पत्ता चखा वह भी कटुक निकला। फिर भी तन्तु का आस्वादन किया तो वह भी कटुक! अन्त में जड़ उखाड़ कर उसे जीभ पर रक्खा सो वह भी कटुक निकली। बाबाजी ने मन में कहा—जिसकी जड़ ही कटुक है उसका फल मीठा कैसे हो सकता है? फल मीठा चाहिए तो मूल को सुधारना होगा।

मित्रो! आज भारत के बालक आपको देखने में, ऊपर से भले ही खूब-सूरत दिखलाई देन हों, पर उनके भीतर कटुकता भरी पड़ी है। प्रश्न होता है—बालकों में यह कटुकता कहाँ से आई? परीक्षा करके देखेंगे तो ज्ञात होगा कि बालक रूपी फलों में माता रूपी मूल में से कटुकता आती है। अतएव मूल को सुधारने की आवश्यकता है। जब आप मूल को सुधार लेंगे तो फल आप ही आप सुधर जाएँगे। जड़ को सुधारने का भार मैं किसके सिपुर्द करूँ? मुझे तो इस समय बाबाजी की जगह दीवान साहब नजर आ रहे हैं। यहाँ की भाषा में बाबाजी का अर्थ है—बुजुर्ग। लोग अपने पिता या पितामह आदि को बाबाजी कहते हैं। दीवान साहब प्रजा के संरक्षकों में से हैं—प्रधान हैं, अतएव उन्हें बाबाजी की पदवी देना अनुचित भी न होगा।

दीवान साहब तथा अन्य भाइयो! जब आप बाजार में निकलें उस समय आपको मिठाई की दूकानें दिखाई दें या लोगों के शरीर पर

आभूषण और कीमती कपड़े दिखाई दें, तो इससे आप यह न समझ लीजिए कि हमारा देश सुखी है। यह तो ऊपर का भभका है। देश में करोड़ों आदमी भूखों मरते हैं और नंगे रह कर जीवन बिताते हैं। शहरियों की भी दशा ठीक नहीं है। अज्ञान इतना फैला हुआ है कि यह देश दुनिया के लगभग सभी देशों से पिछड़ा हुआ है। जिस देश में शिक्षा की इतनी कमी हो वह देश यदि परतन्त्र बन जाय तो इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है ?

भारतवर्ष की दशा अभी कड़ुवे तम्बूम्बे की बेल के समान है। इसके फल सब कड़ुवे हैं ! अतः मातारूपी जड़ को मीठा बनाने का प्रयत्न कीजिए। अर्थात् जिस प्रकार तम्बूम्बे की जगह मीठे मतीरे (तरबूज) की बेलें बन सकती हैं, इसी प्रकार इन माताओं को मीठे मतीरे की जड़ बनाइए, जिससे देश में सुख-शान्ति का संचार हो सके।

माता रूपी मूल को सुधारने का एक मात्र उपाय है—उन्हें सुशिक्षिता बनाना। यह काम, मेरा खयाल है, पुरुषों की बनिस्पत स्त्रियों में बहुत शीघ्र हो सकता है। उपदेश का असर स्त्रियों पर जितनी जल्दी होता है, उतना पुरुषों पर नहीं होता। इस तथ्य की परीक्षा कल भी हो चुकी है। एक स्थानीय बहिन ने चोटी से लेकर एड़ी तक सफेद खादी के अतिरिक्त अन्य समस्त वस्त्रों को धारण करने का त्याग किया है और साथ ही यह प्रतिज्ञा भी ली है कि एक अंगूठी के सिवाय और कोई जेवर न पहनेगी।

मित्रो ! मारवाड़ प्रान्त में और विशेषतः बीकानेर के वातावरण में इस प्रकार की प्रतिज्ञा धारण करना कितना कठिन है, पर उस बहिन ने हिम्मत करके यह काम कर दिखाया है। पुरुषों में अभी एक

भी ऐसा पुरुष नजर नहीं आता जिसने एड़ी से चोटी तक खादी के सिवाय और कोई भी वस्त्र न पहनने की प्रतिज्ञा ग्रहण की हो। क्या यह काम स्त्री-हृदय की कोमलता परन्तु वीरता का नहीं है ? इसीलिए मैं कह सकता हूँ कि स्त्रियों को सुधारने वाला कोई हो तो वे बहुत शीघ्र सुधर सकती हैं।

पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में त्याग की मात्रा अधिक दिखाई देती है। पुरुष चालीस वर्ष की अवस्था में विधुर हो जाय तो समाज के हितचिन्तकों के मना करने पर भी, जाति में तड़ डालने की परवाह न कर के दूसरा विवाह करने से नहीं चूकता। दूसरी तरफ उन विधवा बहिनों की ओर देखिए जो बारह-पन्द्रह वर्ष की उम्र में ही विधवा हो गई हैं। वे कितना त्याग करके आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करती हैं ! क्या यह त्याग पुरुषों के त्याग से बढ़ कर नहीं है?

पुरुष वर्ग में त्याग की तो इतनी भावना भी नहीं कि वह कम से कम वृद्धावस्था में कन्या से विवाह न करे ! कहते लज्जा आती है कि धनवान् वृद्ध पुरुष अपने धन के नशे में इतने अन्धे हो जाते हैं कि उन्हें अपने हिताहित का तनिक भान नहीं रहता और वे ऐसे-ऐसे काम कर बैठते हैं, जिन्हें सुनते ही घृणा उत्पन्न होती है।

मित्रो ! अब उठो। अपने जीवन को सुधारो और अपने दुःखों को दूर करने के लिए स्त्रियों की शिक्षा का प्रबन्ध करो।

स्त्रीशिक्षा का तात्पर्य कोरा पुस्तकज्ञान नहीं है। पुस्तक पढ़ना सिखा दिया और छुट्टी पाई, इससे काम नहीं चलेगा। याद रखना, कोरे अक्षर ज्ञान से कुछ भी नहीं होने का। अक्षर ज्ञान के साथ व्यावहारिक ज्ञान—कर्त्तव्यज्ञान की शिक्षा दी जायगी तभी शिक्षा का वास्तविक प्रयोजन सिद्ध हो सकेगा।

मैंने एक दिन आपके सामने द्रौपदी का जिक्र किया था । मैंने बतलाया था कि द्रौपदी को चार प्रकार की शिक्षा मिली थी । एक बालिका-शिक्षा, दूसरी वधूशिक्षा, तीसरी मातृशिक्षा और चौथी कदाचित् कर्मयोग से वैधव्य भोगना पड़े तो विधवा-शिक्षा । तात्पर्य यह है कि स्त्री को जिन अवस्थाओं में से गुजरना पड़ता है, उन अवस्थाओं में सफलता के साथ निर्वाह करने की उसे शिक्षा मिली थी । यही शिक्षा समूची शिक्षा कही जा सकती है। स्त्रियों को जीवन की सर्वाङ्ग उपयोगी शिक्षा मिलनी चाहिए ।

स्त्रीशिक्षा के पक्ष में कानूनी दलील देने के लिए बहुत समय की आवश्यकता है । शिक्षा देने के विषय में अब पहले जितना विरोध भी दिखलाई नहीं देता । पहले इतना अधिक वहम घुसा हुआ था कि लोग एक घर में दो कलम चलना अनिष्टजनक समझते थे। पर अब भी कुछ भाई स्त्रीशिक्षा का विरोध करते हैं । उन्हें समझ लेना चाहिए कि यह परम्परागत कुसंस्कारों का परिणाम है। स्त्रियों को शिक्षा देना अगर हानिकारक होता तो भगवान ऋषभदेव अपनी ब्राह्मी और सुन्दरी नामकी पुत्रियों को क्यों शिक्षा देते ? आज पुरुष स्त्रीशिक्षा का निषेध भले ही करें मगर उन्हें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि रमणीरत्न ब्राह्मी ने पुरुषों को साक्षर बनाया है । उसकी स्मृति में लिपि का नाम आज भी ब्राह्मी लिपि प्रचलित है । जो पुरुष जिसके प्रताप से साक्षर हुए उसी के वर्ग (स्त्रीवर्ग) को अक्षरहीन रखना कृतघ्नता नहीं है ? अन्य समाज में ब्राह्मी का 'भारती' नाम भी प्रचलित है। 'भारती' और 'सरस्वती' शब्द एक ही अर्थ के द्योतक हैं । सरस्वती ब्रह्मा की पत्नि बतलाई जाती है । विद्यालाभ के लिए लोग सरस्वती-अरे स्त्री की पूजा करते हैं, फिर कहते हैं कि स्त्री शिक्षा निषिद्ध है ! स्मरण रखिए, जब से पुरुषों ने स्त्रीशिक्षा के विरुद्ध आवाज उठाई है

तभी से उनका पतन प्रारम्भ हुआ है और आज भी उस विरोध के कटुक फल भुगतने पड़ रहे हैं।

मित्रो ! क्या अब भी स्त्रीशिक्षा के सम्बन्ध में आपको सन्देह है ?

'नहीं' महाराज !'

भाइयो ! आप लोग आस्तिक हैं, श्रद्धाशील हैं। इस श्रद्धाशीलता के कारण आप 'जी' और 'तथ्यवचन' कह देते हैं और मेरा कथन अंगीकार कर लेते हैं। पर उस कथन को जीवन में कहाँ उतारते हैं ? अच्छी से अच्छी औषधि सेवन किये बिना फलप्रद नहीं होती और सुन्दर से सुन्दर विचार भी जीवन में परिणत किये बिना लाभदायक नहीं हो सकता। मेरे उपदेश की और आपके श्रवण की सार्थकता इसीमें है कि उसे आप जीवन में व्यवहृत करें।

आप यूरोप निवासियों को नास्तिक कहते हैं पर वे वचन के पक्के होते हैं। वे जिस कार्य के लिए 'हाँ' भर देते हैं, उसे किए बिना नहीं रहते। ऐसी हालत में उन्हें आस्तिक कहना चाहिए या नास्तिक ? और इस दृष्टि से आप किस कोटि में चले जाएँगे यह भी सोच लीजिए। एक आदमी कहता तो है कि रोटी खाने से भूख मिट जाती है, पर वह खाता नहीं है। दूसरा कहता है—रोटी खाने से भूख नहीं मिटती, पर वह समय पर रोटी खा लेता है। अब आप बताइए, किसकी भूख मिटेगी ?

'खाने वाले की !'

तो यही बात आप अपने विषय में सोच लें। आप मेरे उपदेश को मुख से लाभदायक भले ही कहें, परन्तु यदि उसे काम में नहीं लाएँगे तो वह लाभदायक कैसे हो सकेगा ?

मित्रो ! बीच में मैं आपको एक बात कहता हूँ। चांदा नाम का एक मुसलमान था। उसने अपनी बीबी से कहा—मैं एक भैंस लाऊँगा।

बीबी बोली—बड़ी खुशी की बात है। मैं अपने मायके (पीहर) वालों को भी छाछ भेजा करूँगी।

यह सुनना था कि मियाँ का पारा तेज हो गया। वे बड़बड़ाते हुए उठे और बीबी को लतियाने लगे।

बीबी बेचारी हैरान थी। उसकी समझ में ही न आया कि मियाँ साहब क्यों खफ़ा हो उठे हैं ? उसने पूछा—मियाँ, आखिर बात क्या है ? क्यों नाहक मुझ पर टूट पड़े हो ?

मियाँ गुस्से से पागल हो गये। बोले—राँड, कहीं की, भैंस तो लाऊँगा मैं और छाछ भेजेगी मायके वालों को ?

इसके बाद फिर तड़ातड़, फिर तड़ातड़ !

लोग इकट्ठे हुए। उन्हें मियाँ के कोप का कारण मालूम हुआ तो उन्हें भी जब्त न रहा। उन्होंने मियाँ को मारना आरम्भ किया। तमाचे पर तमाचे पड़ने लगे।

अब मियाँ की अक्ल ठिकाने आई। चिल्ला कर कहने लगे—खुदा के वास्ते माफ़ करो भाई, आखिर तुम लोग मेरे ऊपर क्यों पिल पड़े हो।

लोगों ने कहा—तेरी भैंस हमारा सारा खेत खा गई है ।

मियाँ— भैंस अभी मैं लाया ही कहाँ हूँ ?

लोग—तेरी बीबी ने पीहर वालों के छाछ कहाँ भेजी है ?

मियाँ समझे । उन्हें होश आया । अपनी भूल समझ कर शर्मिन्दा हुए ।

स्त्रीशिक्षा का कार्य जब आरम्भ होगा तब होगा; पर उसके विरुद्ध अभी से काना-फूसी होने लगी है । जो लोग ऐसा करते हैं वे उक्त मियाँजी का दृष्टान्त चरितार्थ करते हैं ।

एक ही बात नहीं, अनेक बातों में अक्सर इसी प्रकार बेबुनियाद लड़ाई-झगड़ा खड़ा हो जाता है और लाखों रुपया कचहरी देवी की भेंट चढ़ जाता है । बेचारे जज हैरान-परेशान हो जाते हैं पर आप लड़ते-लड़ते नहीं थकते । खैर ।

मैं आपको स्त्रीशिक्षा के सम्बन्ध में कह रहा हूँ । स्त्रीशिक्षा का अर्थ यह नहीं कि आप अपनी बहू-बेटियों को यूरोपियन लेडी बनावें और न यही अर्थ है कि उन्हें घूंघट में लपेटे रहें । मैं स्त्रियों को ऐसी शिक्षा देने का समर्थन करता हूँ जैसी सीता, सावित्री, द्रौपदी, ब्राह्मी, सुन्दरी और अंजना आदि को मिली थी, जिसकी बदौलत वे प्रातः स्मरणीय बन गई हैं और उनका नाम माँगलिक समझ कर आप श्रद्धाभक्ति के साथ प्रतिदिन जपते हैं । उन्हें ऐसी शिक्षा दी जाय जिस मे वे अज्ञान के अन्धकार से बाहर निकल कर ज्ञान के प्रकाश में आ सकें । उन्हें ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है जिससे वे भलीभाँति धार्मिक उपदेशों को अपना सकें । उन्हें ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए जिस

के कारण उन्हें अपने कर्त्तव्य का, अपने दायित्व का, अपने स्वरूप का, अपनी शक्ति का, अपनी महत्ता का और अपनी दिव्यता का बोध हो सके। उन्हें ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए जिससे वे अबला न रहें—प्रबला बनें। पुरुषों का बोझ न रहें—शक्ति बनें। वे कलहकारिणी न रहें—कल्याणी बनें। उन्हें जगज्जननी, वरदानी एवं भवानी बनाने वाली शिक्षा की आवश्यकता है।

मैंने कल श्रीमती की बात कही थी। उसने अपने पति के साथ रहकर शिक्षा पाई। उसके पति साधारण मनुष्य नहीं वरन् एक पहुँचे हुए तत्त्व-ज्ञानी मुनि थे। उन्होंने विशेष आग्रह करने पर बारह वर्ष तक उसके साथ रहना स्वीकार किया था। बारह वर्ष की अवधि समाप्त हुई और पति जब वन-गमन करने लगे तो श्रीमती को चिन्ता हुई कि मैं अब अकेली किस प्रकार रह सकूंगी? आखिर उसने चर्खे का आविष्कार किया और उसी को अपना साथी-संरक्षक बनाया।

यह कथा आज के गांधीयुग की नहीं है। करीब अढ़ाई हजार वर्ष पहले की लिखी हुई कथा है।

मित्रो! शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिससे गरीबों का हित हो। व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को समझे, उसे विकसित करे और धीरे-धीरे उसका दायरा विशाल से विशालतर होता चला जाय। शिक्षा का फल यह नहीं है कि शिक्षा पाया हुआ व्यक्ति निर्बलों, अशिक्षितों, गरीबों का भाररूप बने, अपनी विलासिता की वृत्ति में वृद्धि करके दूसरों को चूसे। जिस शिक्षा की बदौलत गरीबों के प्रति स्नेह, सहानुभूति और करुणा का भाव जागृत होता है, जिससे देश का कल्याण होता है और विश्वबन्धुता की दिव्य ज्योति अन्तःकरण में जाग उठती है, वही सच्ची शिक्षा है।

भाइयो और बहिनो आजकल आपकी विलासिता बहुत बढ़ गई है। आपकी विलासिता के कारण आज भारत में छह करोड़ मनुष्य भूखों मर रहे हैं। इन पर जरा दया करो। इन्हें भूखों मरने से बचाओ। आपकी विलासिता के कारण यह कैसे भूखों मर रहे हैं, यह आपको मालूम नहीं पड़ता। याद रखिए, जिस खर्च को आप तुच्छ समझकर कर रहे हैं, वही उनके भूखों मरने और दुःख उठाने का कारण बन जाता है।

मैंने बहुत दिनों पहले कौशलेश्वर और काशीनरेश की बात कही थी। कौशलेश्वर ने काशीनरेश को बहुत कुछ सुधार दिया था। एक दिन वह था जब वे गरीब प्रजा के भक्षक थे, वही प्रजारक्षक बन गये। काशी नरेश की रानी का नाम करुणा था। एक दिन उसे वरुणा नदी में स्नान करने की इच्छा हुई। उसने महाराज से स्नान के लिए जाने की आज्ञा माँगी। महाराज स्त्रियों को कोठरी में बन्द रखने के पक्ष में नहीं थे। वे चाहते थे कि स्त्रियाँ भी सुखपूर्वक प्राकृतिक छटा अवलोकन करें और प्रकृति की पाठशाला से कुछ सीखें। अतएव उन्होंने बिना किसी आनाकानी के महारानी को आज्ञा दे दी।

महारानी अपनी सौ दासियों के साथ, रथ पर सवार होकर नदी पर पहुँची। वरुणा के तट पर गरीबों की झौंपड़ियाँ बनी हुई थीं। उनमें कुछ मस्त फकीर भी रहते थे। रानी ने तट-निवासियों को कहला भेजा—महारानी स्नान करना चाहती हैं, इसलिए थोड़ी देर के लिए सब लोग अपनी-अपनी झौंपड़ी छोड़कर बाहर चले जाएँ। सब लोगों ने ऐसा ही किया। महारानी अपनी सखियों के साथ वरुणा में किलोल करने लगी। उसने यथेष्ट जलक्रीड़ा की। महारानी जब स्नान करके बाहर निकली तो उसे ठंड लगने लगी। उसने

चम्पकवती नामक दासी से कहा—जाओ, सामने के पेड़ों पर से सूखी लकड़ियाँ ले आओ। उन्हें जलाओ। मैं तापूंगी।

चम्पकवती लकड़ियाँ लेने गई किन्तु कोमलता के कारण लकड़ियाँ न तोड़ सकी वह वापस लौट आई और अपनी कमजोरी प्रकट करके क्षमायाचना करने लगी। महारानी बोली—खैर, जाने दो, मगर तापना जरूरी है। सामने बहुत-सी झौंपड़ियाँ खड़ी हैं। इन में किसी एक को आग लगा दो। अपना मतलब हल हो जायगा।

चम्पकवती समझदार दासी थी। उसने कहा—महारानीजी, आपकी आज्ञा सिर माथे, परन्तु आप इस विचार को त्याग दीजिए। यह अच्छी बात नहीं है। गरीबों का सत्यानाश हो जायगा! वे गर्मी-सर्दी के मारे मर जाएँगे। उनकी रक्षा करने वाली यह झौंपड़ियाँ ही हैं।

महारानी की त्यौरियाँ चढ़ गईं। बोली—बड़ी दयावती आई है कहीं की! अगर इतनी दया थी तो लकड़ियाँ क्यों न ले आई? अच्छा मदना, तू जा और किसी भी एक झौंपड़ी में लगा दे।

मदन दासी गई और उसने महारानी की आज्ञा का पालन किया। झौंपड़ी धाँय-धाँय धधकने लगी। महारानी कुछ दूरी पर बैठकर तापने लगी। उसकी ठण्ड दूर हुई। शरीर में गर्मी आई। चित्त में शान्ति हुई। फिर महारानी रथ में बैठ कर राजमहल के लिए रवाना हो गई।

महारानी ने एक झौंपड़ी जलाने की आज्ञा दी थी। मगर पास-पास होने के कारण, हवा के प्रताप से एक की आग दूसरी तक पहुँची और इस प्रकार तमाम झौंपड़ियाँ जल कर राख का ढेर बन

गईं। लोग अपनी झोंपड़ियों के पास आये, तब उन्होंने वहाँ जो दृश्य देखा तो सन्न रह गये। झोंपड़ियों के स्थान पर राख का ढेर देख कर उनके शोक का पार न रहा। रोने और चिल्लाने लगे। किसी ने कहा—हाय! हमारा सर्वस्व भस्म हो गया! दूसरे ने कहा—हाय! अब हम कहाँ आश्रम लेंगे, गर्मी-सर्दी, पानी से बचने का एक वही ठिकाना था सो छिन गया! अब हमारी क्या गत होगी!

पहले ही कहा जा चुका है कि वहाँ कुछ मस्त फक्कड़ भी रहते थे। उन्होंने रोने-चिल्लाने वालों को ढाढस बँधाया और समझाया—मूर्खो, रोने से झोंपड़ी खड़ी नहीं हो जायगी। हमारे साथ चलो और राजा से फ़रियाद करो।

लोग राजा से फरियाद करने चले। आगे-आगे बाबाजी और पीछे-पीछे गरीबों की फौज। लोगों ने उन्हें जाते देख पूछा—भाई, आज किधर चढ़ाई करने जाते हो? जब उन्हें कारण बतलाया गया तो उन्होंने बिना माँगी सलाह देते हुए कहा—बावले हो गये हो क्या! महारानी ने झोंपड़ियाँ जला दीं तो कौन-सी सोने की लंका जल गई! घास-फूस की कमी तो है नहीं, फिर खड़ी कर लेना। छोटी-सी बात के लिए महाराज के पास पहुँचना क्या भली बात है?

गरीब बेचारे अपढ़। वे लोगों की इन बातों का कुछ भी उत्तर न दे सके। फ़कीरों ने कहा—जरा सोच-समझ कर बात कही होती तो ठीक था। आज इन गरीबों की झोंपड़ियाँ जलाई गई हैं। कल महारानी तरंग में आकर तुम्हारे महलों में आग लगवा देगी। क्या यह अत्याचार नहीं है? जो आज छोटा अत्याचार कर सकता है, उसे कल बड़ा अत्याचार करते क्या देर लगेगी? इसके अतिरिक्त इन गरीबों के लिए अपनी झोंपड़ियाँ उतनी ही मूल्यवान् हैं, जितने

मूल्यवान् आपके लिए अपने महल हैं। इसलिए यह कोई साधारण घटना नहीं है। हम तो कहते हैं कि तुम भी हमारे साथ चलो और जोरदार शब्दों में राजा से इस अत्याचार के विरुद्ध प्रार्थना करो।

बात लोगों की समझ में आ गई। कल हमारे महल ही जलाये जाने लगेंगे! तो हम लोगों को भी इनका साथ देना चाहिए और इस अत्याचार को अन्तिम बना देना चाहिए।

इस प्रकार लोगों का एक बड़ा भारी झुण्ड राजमहल के चौक में जा खड़ा हुआ। महाराज ने जनता का कोलाहल सुन कर महल के झरोखे में से बाहर की ओर झाँका तो बड़ी-सी भीड़ दिखाई दी। उन्होंने पूछा—तुम लोग क्यों इकट्ठे होकर आये हो?

प्रजा—महाराज, गरीबों का सत्यानाश हो गया। अब यह बेचारे किस प्रकार अपने गर्मी-सर्दी के दिन बिताएँगे!

राजा—क्यों? क्या हुआ?

प्रजा—अन्नदाता, महारानीजी स्नान करने गई थीं। उन्हें ठण्ड लगी। तापने के लिए उन्होंने एक झौंपड़ी में आग लगवाई और हवा के वेग से तमाम झौंपड़ियाँ जल कर भस्म हो गई हैं। यह बेचारे गृह-हीन हो गये!

राजा—ऐसा अत्याचार हुआ! अच्छा जरा ठहरो।

काशी-नरेश ने चम्पकवती दासी को महारानी को बुला लाने का आदेश दिया।

चम्पकवती महारानी के पास गई। उसने हाथ जोड़ कर कहा—महारानीजी, अन्नदाता आपको याद कर रहे हैं।

महारानी—आज इस वक्त क्यों ?

चम्पकवती—मैंने जो कहा था, आखिर वही हुआ।

महारानी—तूने क्या कहा था और क्या हुआ ?

चम्पकवती—मैंने नदी तट की झौंपड़ियाँ न जलाने के लिए प्रार्थना की थी। आप न मानी। तमाम झौंपड़ियाँ भस्म हो गईं। अब लोगों ने अन्नदाता के सामने फ़रियाद की है।

महारानी—तो क्या मुझे बुलाया है ?

चम्पकवती—जी हाँ।

महारानी—प्रजा के सामने, मुझे !

चम्पकवती—जी हाँ।

महारानी—महाराज नशे में तो नहीं है ! प्रजा के सामने मेरा फैसला होगा ?

चम्पक०—मैं तो अन्नदाता की आज्ञा पालने आई हूँ।

आखिर महारानी महाराज के सामने उपस्थित हुई। महाराज ने पूछा—रानीजी, यह लोग जो फ़रियाद कर रहे हैं सो क्या सच है ?

महारानी—महाराज, बात तो सच है।

महाराज—तो इसका दण्ड ?

महारानी—मैं महारानी हूँ। मुझे दण्ड ?

महाराज—न्याय किसी का व्यक्तित्व नहीं देखता महारानी; वह राजा और प्रजा के लिए समान है। न्याय अगर लिहाज करेगा तो ब्रह्माण्ड उलट जायगा।

महारानी—अगर ऐसा है तो अपने खर्च से इनकी झौंपड़ियाँ बनवा दी जाएँ।

महाराज—मगर प्रश्न तो धन का है। झौंपड़ियाँ खड़ी करने के लिए धन कहाँ से आएगा?

महारानी चकित थी। उसने कहा—महाराज, रुपयों की क्या कमी है?

महाराज—रुपये क्या मेरे खून से या तुम्हारे खून से पैदा हुए हैं? खज़ाने का रुपया भी तो इन्हीं का है। इनके खून की कमाई से ही वह भरा गया है। जुल्म करें हम लोग और दण्ड भरा जाय इनके पैसों से? यह तो दूसरा जुल्म हो जायगा।

महारानी समझ गई। बोली—अन्नदाता, अब मेरी समझ में आ गया। आप चाहें वही दण्ड दीजिए। मैं सब तरह तैयार हूँ।

राजा ने गम्भीर होकर कहा—अच्छा, अपने हाथों से मजदूरी करो। उसी से अपना पेट पालो। जो कुछ बचत कर सको उससे झौंपड़ियाँ बनवा दो। जब झौंपड़ियाँ तैयार हो जाएँ तब महल में पाँव धरना।

महाराज का न्याय सुन कर प्रजा सन्न रह गई। उसने इस फैसले की कल्पना भी नहीं की थी। लोगों ने चिल्ला कर कहा—

अन्नदाता, हमारा न्याय हो चुका। अब हमारा कोई दावा नहीं है। कृपा कर महारानीजी को इतना कड़ा दण्ड न दीजिए।

महारानी बोली—महाराज, आप लोगों की बातों में न आइए। आपका न्याय अमर हो। आपका न्याय उचित है। अब इसे न लौटाइए। मैं प्रसन्न हूँ।

प्रजा—नहीं महाराज, हम अपनी महारानीजी को ऐसा दंड नहीं दिलवाना चाहते! अब हम कुछ भी नहीं चाहते। हमारी फ़रियाद वापस लौटा दीजिए।

महाराज—प्रजा-जनो! तुम्हारी भक्ति की मैं कद्र करता हूँ, पर न्याय के समक्ष मैं विवश हूँ। महारानी भी यही चाहती हैं।

महारानी—अन्नदाता, आज का दिन बड़े सौभाग्य का दिन है। आज मैं अपने पति पर गर्व कर सकती हूँ। आपने न्याय की रक्षा की है। अब मुझे आज्ञा दीजिए। मैं जाती हूँ।

महारानी ने अपने बहुमूल्य आभूषण और वस्त्र उतार दिये। साधारण पोशाक पहन कर वह महल से विदा होने लगी।

राजघराने की स्त्रियाँ और प्रजा की स्त्रियाँ उन्हें रोकने लगीं। पर रानी ने किसी की न सुनी। रानी ने कहा—बहिनो, मुझे रोको मत। अगर तुम्हारी मेरे साथ सहानुभूति है तो तुम भी मजदूरी करो। मेरी सहायता करो। मैंने भीषण अत्याचार किया है। उसके फल से मुंह मोड़ना अच्छा नहीं है। यह अक्षम्य अपराध है।

स्त्रियों ने कहा—मगर आपका कष्ट हमसे नहीं देखा जाता।

महारानी—कष्ट? कष्ट कैसा! क्या सीता और द्रौपदी ने कष्ट

नहीं झेले ? आज उनका नाम स्मरण आते ही श्रद्धा-भक्ति से मस्तक क्यों झुक जाता है ? अगर धर्म और न्याय के लिए उन्होंने कष्ट न उठाये होते और राजमहल में रह कर भोगविलास का जीवन बिताया होता तो कौन उन्हें याद करता ? मैं चक्की चलाऊँगी, चर्खा कातूंगी, और अपने अपराध का प्रायश्चित करूँगी।

भाइयो और बहनो ! आपने महारानी करुणा की बात सुनी। उसके जरा से विलास की बदौलत लोगों को कितना कष्ट हुआ ?

आप कलकत्ता जाते हैं और सोना खरीद लाते हैं। बहनें उनकी बँगड़ियाँ बनवा कर पहनती और अभिमान करती हैं। पर कभी उन्होंने यह भी सोचा है कि यह बँगड़ियाँ कितने गरीबों के सत्यानाश से बन कर तैयार हुई हैं ? हाय हाय ! और तो क्या कहूँ, आपने जो कपड़े पहने हैं इन्हें देखो। इनमें चर्बी लगी है। न जाने कितने पशुओं को पील कर, उनका क्रूरता-पूर्वक कत्ल करके वह चर्बी निकाली गई होगी। क्या आपका हृदय इतना कठोर है कि गरीबों और मूक पशुओं की इस दुर्दशा को देखकर भी नहीं पिघलता।

भारत की कंगाली का, उसकी दीनता-हीनता और दुर्दशा का प्रधान कारण विलासिता की वृद्धि है। अगर आप देश की लाज रखना चाहते हैं, देश को सुखी बनाना चाहते हैं, तो गरीबों को चूसना छोड़ो और चर्बी लगे हुए वस्त्रों से मुंह मोड़ो।

खादी शुद्ध वस्त्र है। इसमें चर्बी का उपयोग नहीं होता। इसीसे काम चलाना बुरा नहीं है यही गरीबों की रक्षक है।

हेमचन्द्राचार्य जब सांभर गये तब उन्हें धन्ना नामक सेठ की स्त्री ने हाथ की कती और हाथ की बुनी खादी भेट की। वह बहुत प्रसन्न

हुए और उसे पहना। जब राजा कुमारपाल, जो आचार्य हेमचन्द्र का शिष्य था, दर्शन करने आया तब उसने आचार्य को खादी पहने देखकर—महाराज, आप हमारे गुरु हैं। आपको यह मोटी और खुरदरी खादी पहने देखकर मुझे लज्जा आती है। हेमचार्य बोले—'भाई, तुम्हें खादी पहने देखकर लज्जा नहीं आनी चाहिए। लज्जा तो भूख के मारे मरने वाले गरीब भाइयों को देख कर आनी चाहिए।

हेमचन्द्राचार्य के इन शब्दों ने राजा कुमारपाल पर अद्भुत प्रभाव डाला, वह स्वयं खादी भक्त बन गया। उसने चौदह वर्ष तक, प्रति वर्ष एक करोड़ रुपया गरीबों की स्थिति सुधारने में व्यय किया।

मित्रो ! सोचिये, खादी ने क्या कर दिखाया ! कितने गरीबों की रक्षा की ? आप खादी से क्यों डरते हैं ? 'क्या राज की तरफ़ से आप को रोक टोक है ? दीवान साहब ! क्या खादी पहनना आपके राज्य में निषिद्ध है ?

मित्रो ! दीवान साहब कहते हैं—खादी पहनना निषिद्ध नहीं, आप खादी से भयभीत क्यों होते हैं ?

खादी के अतिरिक्त अन्य विलासवर्धक वस्त्रों को पहनना या अन्य कार्य में लाना गरीबों की झौंपड़ियों में आग लगाने के समान है। आपने गरीबों की झौंपड़ियों में बहुत आग लगाई है, अब करुणा करके, रानी की तरह मजूर बनकर प्रायश्चित कर डालिए।

मजूर बनने में कुछ कष्ट तो जरूर है, पर कष्ट झेलने में ही मर्दानगी है। आज आप लोग सीता और राम को क्यों याद करते हैं ? कष्ट भोगने के कारण ही। अगर वे राजमहलों में बैठ कर

आनन्द भोगते तो उन्हें कौन पूछता ? इस धरातल पर न जाने कितने राजा, महाराजा, सम्राट् आदि हो चुके हैं। पर आज लोग उनका नाम भी नहीं जानते।

इस प्रकार आप अपने मूल को सुधारने का प्रयत्न कीजिए। मूल का सुधार होने पर तना, शाखाएँ, फल आदि स्वयं सुधर जाएँगे। मूल को सुधारने का सर्वश्रेष्ठ उपाय शिक्षा का प्रचार है। स्त्रीशिक्षा के सम्बंध में मुझे बहुत-सी बातें कहनी थीं, पर अब समय हो चुका है। आप दीवान साहब के सरस्वती कुल को देखिए। इनके घर में नौ महिलाएँ ग्रेज्युएट हैं। याद रखना, जहाँ सरस्वती होती है, वही समाज, वही देश और वही कुल सुख और शान्ति का केन्द्र बनता है।

भीनासर
२६—६—२७

उदार अहिंसा

श्री जिन अजित नमो जयकारी, तू देवन को देवजी।
जितशत्रु राजा ने विजया, राणी को, आतमजात त्वमेव जी।
श्रीजिन अजित नमो जयकारी॥

निरारंभ और निष्परिग्रह रहना साधु का धर्म है, अल्पारंभी और अल्पपरिग्रही बनना श्रावक—गृहस्थ—का धर्म है तथा महारंभी और महापरिग्रही बनना मिथ्यात्वी का काम है।

यहाँ यह विचार करना आवश्यक है कि गृहस्थ अल्पारंभी अल्पपरिग्रही किस प्रकार बन सकता है?

श्रावक स्थूल प्राणातिपात का त्यागी होता है। अतएव यह

विचार कर लेना उपयोगी होगा कि यहाँ 'स्थूल' का क्या अर्थ है ? स्थूल शब्द सूक्ष्म की अपेक्षा रखता है और 'सूक्ष्म' स्थूल' की अपेक्षा रखता है। यदि 'सूक्ष्म' न होता तो स्थूल का होना संभव नहीं था। तो यहाँ स्थूल शब्द से क्या ग्रहण किया गया है ?

यहाँ स्थूल शब्द का प्रयोग द्वीन्द्रिय से लेकर जितने जीव आबाल-वृद्ध सभी को सरलता से आँखों द्वारा दिखाई देते हैं, उनके लिए किया गया है। ऐसे जीवों से भिन्न-आँखों से न दिखाई देने वाले जीव, चाहे वे द्वीन्द्रिय आदि ही क्यों न हों, यहाँ सूक्ष्म कहलाएँगे।

मोटी बुद्धि वालों को यह बात एकाएक समझना कठिन होगा, पर विचारशील व्यक्ति इसे जल्दी समझ सकेंगे।

शास्त्रकार ने एकेन्द्रिय जीव की हिंसा को हिंसा माना है पर उसका पाप पञ्चेन्द्रिय जीव की हिंसा के बराबर नहीं माना।

जैन समाज में आज हिंसा-अहिंसा के विषय में बहुत भ्रम फैला हुआ है। बहुत से ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने 'दया करो' का अर्थ समझ रक्खा है—सिर्फ छोटे-छोटे जीवों की दया करो। उन्होंने मानवदया प्रायः भुला दी है। एक बलाय ऐसी खड़ी हो गई है जिसकी समझ में चिउंटी की और मनुष्य की हिंसा का पाप एक ही समान है। शायद उन्होंने कंकर चुराने वाले को और जवाहरात चुराने वाले को भी समान ही समझ रक्खा होगा।

जैन समाज ने एकेन्द्रिय जीवों की रक्षा के लिए जब से मनुष्य-दया भुलाई है, तभी से इसका पतन आरंभ हुआ है।

हिन्दू शास्त्र भी किसी जीव को न मारने का विधान करता है, परन्तु जैन शास्त्रों में इसका बहुत अच्छा, स्पष्ट और बारीक विवेचन किया गया है। जैन शास्त्रों में हिंसा के दो भेद किये हैं—एक संकल्पजा हिंसा और दूसरी आरम्भजा हिंसा।

"सङ्कल्पाज्जाता सङ्कल्पजा। मनसः सङ्कल्पाद् द्वीन्द्रियादिप्राणिनः मांसास्थिचर्मनखदन्ताद्यर्थं व्यापादयतो भवति।

अर्थात्—म ो, चमड़ी, नाखून, दांत आदि के लिए जान-बूझ कर द्वी ादि जीवों को मारना संकल्पजा हिंसा कहलाती है।

आरम्भाज्जात ।। तत्रारम्भो हलदन्तालखननस्तत्। तस्मिन् श ...ान्य गृहकारिकादि सङ्घट्टनपरिताप द्रावणरूपेति।

अर्थात्—हल जोतने से तथा दांतुली आदि उपकरणों से और घर आदि बनाने में जो सूक्ष्म जीवों की हिंसा होती है वह आरंभजा हिंसा है।

तत्र श्रमणोपासकः सङ्कल्पतो यावज्जीवया ऽपि प्रत्याख्याति, न तु यावज्जीवयैव नियमतः, इति नारम्भजमिति तस्यावश्यकता आरम्भसद्भावा-दिति।

श्रावक जीवन पर्यन्त के लिए भी संकल्पजा हिंसा का त्यागी हो सकता है परन्तु गृह निर्माण आदि कार्यों में लगे रहने से आरंभजा हिंसा का सर्वथा—नियम से त्यागी नहीं हो सकता। आरंभ करने के कारण—आवश्यकता पड़ने पर हिंसा हो ही जाती है।

आज अहिंसा का वास्तविक रहस्य न समझने के कारण अपने आपको श्रावक मानने वाले कई भाई ऐसे काम कर बैठते हैं, कि अन्यधर्मावलम्बी उनके कार्यों को देखकर उनकी हँसी उड़ाते हैं। कभी-कभी तो इतनी नासमझी प्रकट होती है कि उनके कारण धर्म की अप्रतिष्ठा होती है। कहाँ तो जैन धर्म की अहिंसा की विशालता और कहाँ इन भोले भाइयों की अहिंसा के पीछे हिंसा का बड़ा भाग।

आज अनेक भाई आरम्भजा हिंसा से बचने की पूरी कोशिश करते हैं पर संकल्पजा हिंसा से बचने के लिए कुछ भी प्रयत्न करते नजर नहीं आते। हिंसा-अहिंसा का सच्चा रहस्य न जानने के कारण ही कई श्रावक चिउंटी मर जाने पर जितना अफसोस प्रकट करते हैं, मनुष्य पर अत्याचार करने में उतनी घृणा नहीं करते।

मित्रो! जैनधर्म की अहिंसा ऐसी नहीं है जैसी कि आपने भूल से उसे समझ लिया है। अवसर आने पर सच्चा जैनधर्मी युद्धभूमि में जाने से नहीं हिचकता। हाँ, वह इस बात का पूरा ध्यान रखता है कि मुझ से कहीं निरपराध प्राणी की संकल्पजा हिंसा न होने पावे।

प्राचीन काल में जब कोई राजा दूसरे राजा पर आक्रमण करता था तो वह आक्रमण करने से पहले उसे सूचना देता था। सूचना के साथ ही वह अपनी माँग भी उसके सामने उपस्थित कर देता था। चाहे महाभारत के युद्ध का इतिहास पढ़िए, चाहे राम-रावण के संग्राम का। सर्वत्र आप देख सकेंगे कि आक्रमण से पहले; जिस पर आक्रमण किया जाता था उसके सामने आक्रमणकारी ने अपनी माँग पेश की। प्राचीन भारतवर्ष में यह नियम इतना व्यापक और अनुल्लंघनीय बन गया था कि आज भी इसकी परम्परा प्रायः दिखाई देती है। इस समय भी अपने दूतों के द्वारा माँग पेश की जाती है।

क्या आप बता सकते हैं कि इस नियम का क्या कारण था ? पहले से युद्ध की सूचना देकर अपने शत्रु को तैयार होने का अवसर क्यों दिया जाता था ? राजा लोग अचानक आक्रमण क्यों नहीं कर देते थे ?

मित्रो ! इस परम्परा में एक रहस्य है। जिस दावे को पूरा करने के लिए राजा आक्रमण करता है, उसे कदाचित् वह राजा, जिस पर आक्रमण करना है, बिना युद्ध किये ही स्वीकार कर ले। ऐसी अवस्था में वह युद्ध निरपराधी सैनिकों की हिंसा का कारण होगा और अनावश्यक भी होगा। इस प्रकार निरपराध जीवों की हिंसा से बचने के लिए ही युद्ध से पहले दूसरे राजा के सामने माँग पेश कर दी जाती थी। दूसरा राजा जब आक्रमणकारी की माँग स्वीकार नहीं करता था तो उसे अपराधी समझ कर वह आक्रमण कर देता था।

इससे यह विदित हो जाता है कि श्रावक अपराधी जीवों की हिंसा का एकान्ततः त्यागी नहीं होता।

अहिंसा कायर बनाती है या कायरों का शस्त्र है, यह बात वही कह सकता है जिसने अहिंसा का स्वरूप और सामर्थ्य नहीं समझ पाया है। इससे विपरीत सत्य तो यह है कि अहिंसा का व्रत वीरशिरोमणि ही धारण कर सकते हैं। जो कायर है वह अहिंसा को लजावेगा। वह अहिंसक बन नहीं सकता। कायर अपनी कायरता को छिपाने के लिए अहिंसक होने का ढोंग रच सकता है, वह अपने आपको अहिंसक कहे तो कौन उसकी जीभ पकड़ सकता है, पर वास्तव में वह सच्चा अहिंसक नहीं है। यों तो सच्चा अहिंसावादी एक चिउँटी के भी व्यर्थ प्राण हरण करने में थर्रा उठेगा, क्योंकि वह संकल्पजा हिंसा है। वह इसे महान्

पातक समझता है। पर जब नीति या धर्म खतरे में होगा, न्याय का तकाजा होगा, और संग्राम में कूदना अनिवार्य हो जायगा तब वह हजारों मनुष्यों के सिर उतार लेने में भी किंचिन्मात्र खेद प्रकट न करेगा। हाँ, वह इस बात का अवश्य पूर्ण ध्यान रक्खेगा कि संग्राम मेरी ओर से संकल्परूप न हो, वरन आरम्भ रूप हो।

संकल्पजा हिंसा करने वाले को पातकी के नाम से पुकारा जाता है, पर आरम्भजा हिंसा करने वाला श्रावक इस नाम से नहीं पुकारा जाता।

मित्रो! इस संक्षिप्त विवेचन से आप समझ गये होंगे कि जैनों की अहिंसा इतनी संकुचित नहीं है कि वह संसार के कार्य में बाधक हो और सांसारिक कार्य करने वालों को उसका परित्याग करना पड़े। वह इतनी व्यापक और विशाल है कि बड़े-बड़े सम्राटों, राजाओं और महाराजाओं ने उसे धारण किया है, पालन किया है और आज भी वे उसका धारण पालन कर सकते हैं। उनके लोकव्यवहार में किसी प्रकार की रुकावट खड़ी नहीं होती। जैन अहिंसा अगर राजकाज में बाधक होती तो प्राचीन काल के राजा महाराजा उसका पालन किस प्रकार करते?

एक पादरी की लिखी हुई पुस्तक में मैंने पढ़ा था कि हिन्दू लोगों की अपेक्षा हम पादरी लोग अधिक अहिंसक हैं। हिन्दू शास्त्रों के अनुसार गेहूँ आदि पदार्थों में जीव हैं। हिन्दू लोग गेहूँ आदि को पीस कर खाते हैं। ऐसा करने में कितनी हिंसा होती है? एक बात और भी है। जब गेहूँ आदि की खेती की जाती है तब भी पानी के, पृथ्वी के और न जाने कौन-कौन से हजारों जीवों की हत्या होती है।

वे इतनी अधिक हिंसा करने के पश्चात् पेट भरने में समर्थ हो पाते हैं। फिर भी हिन्दू लोग अपने आपको अहिंसक मानते हैं।

हम पादरी लोग सिर्फ एक बकरे को मारते हैं और उसीसे अनेक आदमियों का पेट भर जाता है। इससे हम बहुत कम हिंसा करते हैं?

मित्रो! यह पादरी भोले भाले लोगों की आँख में धूल झौंकने का प्रयास कर रहा है। वह इस युक्ति से हिन्दुओं के प्रति घृणा का भाव उत्पन्न करवाना चाहता है। वह समझता है, यह तर्क सुनकर बहुत से लोग ईशु की शरण में आजाएँगे। मगर यह पादरी भाई भारी भ्रम में है। उसे समझ लेना होगा कि वह जो दलील पेश करता है, सच्चे अहिंसावादी के सामने पल भर भी नहीं ठहर सकती।

जरा विचार कीजिए, बकरा क्या आसमान से टपक पड़ा है? उसका जन्म किसी बकरी के गर्भ से हुआ है। उस बकरी ने कितना चारा खाया होगा और कितना पानी पिया होगा, जिससे गर्भ का पोषण हुआ? तथा जन्म लेने के बाद बकरे ने कितना घास खाया और कितना पानी पिया है, जिससे उसका शरीर पुष्ट हुआ है? इसका हिसाब लगाना अत्यावश्यक है। बकरे की हिंसा और धान पैदा करने की हिसा की इस आधार पर तुलना की जाय, तो मालूम होगा कि हिंसा किसमें ज्यादा है?

इस संबंध में एक बड़ी बात और भी है। क्या धान आदि द्वारा पेट भरने वाला इतना क्रूर स्वभाव का हो सकता है जितना बकरे का मांस खाने वाला हो सकता है? यदि नहीं तो मांस खाने वाले के

गुणों और धान्य खाने वाले के अवगुणों के गीत क्यों गाये जाते हैं ?

ऊपर ऊपर के विचार से तो हमने पादरी को दोषी ठहरा दिया और यह भी कह दिया कि वह अपनी झूठी सफाई देकर लोगों को धोखा देता है। परन्तु आपने कभी अपने संबंध में भी सोचा है ? मित्रो ! आप लोग भी ऊपर-ऊपर से विचार करते हैं और गहरे पैठ कर विचार करने की क्षमता प्राप्त नहीं करते। आप विचार कीजिए, एक चमार को, जो मरे हुए बकरों की चमड़ी उतार कर जूता, चरस, पखाल आदि बनाता है, आप नीच समझते हैं और उसे घृणा की दृष्टि से देखते हैं। पर आप ही कई सेठ कहलाने वाले भाई अपने मिलों में उपयोग करने के लिए सैंकड़ों नहीं, हजारों भी नहीं, वरन् लाखों मन चर्बी काम में लाते हैं। यह कितने परिताप की बात है ? जब बेचारा चमार आपकी दूकान पर आता है तो आप लाल-लाल आखें दिखा कर उसे डाट-फटकार दिखलाते हैं पर जब चर्बी वाले सेठजी आते हैं तो उन्हे उच्च आसन पर बैठने के लिए आग्रह करते हैं। यह सब क्या है ? क्या यह आपका सच्चा इंसाफ है ? नहीं मित्रो! यह घोर पक्षपात है और महापाप के बंध का कारण है ?

मैं पहले कह चुका हूँ कि श्रावक संकल्पजा हिंसा का त्यागी हो सकता है किन्तु आरम्भजा हिंसा का नहीं। संकल्पजा हिंसा से पहले आरम्भजा हिंसा के त्याग करने का प्रयत्न करना मूर्खता है, क्योंकि उसका इस प्रकार त्याग होना संभव नहीं है। क्रम से काम होना श्रेयस्कर होता है।

कई बहिनें चक्की चलाने का त्याग करती हैं पर आपस में लड़ने

झगड़ने और गाली-गलौज करने में तनिक भी नहीं हिचकतीं। वे न इधर की रहती हैं, न उधरकी रहती हैं। वे स्वयं नहीं पीसती, दूसरों से पिसवाती हैं। जो बहिन अपने हाथ से काम करती है वह यदि विवेक वाली है तो 'जयणा' रख सकती है, पर जो दूसरे के भरोसे रहती है वह कहाँ तक बच सकती है, यह आप स्वयं विचार देखिए।

मित्रो! अहिंसा को ठीक तरह समझने के लिए मोटी-सी बात पर ध्यान दीजिए। अहिंसा के तीन भेद कीजिए—(१) सात्विकी (२) राजसी और (३) तामसी। सात्विकी अहिंसा वीतराग पुरुष ही पाल सकते हैं। राजसी अहिंसा वह है जिसमें अन्याय के प्रतिकार के लिए आरम्भजा हिंसा करनी पड़े। जैसे राम और रावण का उदाहरण लीजिए। रावण सीता को हरण कर ले गया। राम ने सीता को माँगा, पर रावण लौटाने को तैयार न हुआ।। तब लाचार होकर राम ने रावण के विरुद्ध शस्त्र उठाया और उसका नाश किया। यह हिंसा तो अवश्य है, पर इसे राजसी अहिंसा ही कहा जाता है। रावण ने शस्त्र उठाया–सो संकल्पजा हिंसा थी और राम की हिंसा आरम्भजा। दोनों में यह अन्तर है। राजसी अहिंसा सात्विकी अहिंसा से भिन्न श्रेणी की है पर तामसी अहिंसा से उच्च कोटि की है। तामसी अहिंसा कायरता से उत्पन्न होती है। अपनी स्त्री पर अत्याचार होते देख कर, जो क्षति पहुँचने या अपने मर जाने के डर से चुप्पी साध कर बैठ जाता है, अन्याय और अत्याचार का प्रतीकार नहीं करता, लोगों के टोकने पर जो अपने आपको दयालु प्रकट करता है, ऐसा नपुंसक तामसी अहिंसा वाला है। यह निकृष्ट अहिंसा है। इस अहिंसा की आड लेने वाला व्यक्ति संसार के लिए भार स्वरूप है। वह कायर है और धर्म का, जाति का तथा संस्कृति का घातक है।

मित्रो ! विवेक के साथ अहिंसा का स्वरूप समझो। क्रमशः अहिंसा का पालन करते हुए अन्त में पूर्ण अहिंसक बनो। ऐसा कोई व्यवहार मत करो जिससे तुम्हारे कारण धर्म की अप्रतिष्ठा हो। इसी में तुम्हार और जगत् का कल्याण है।

भीनासर
३०—६—२७

१२

नारी-सम्मान

धर्म का सम्बन्ध आत्मा के साथ है। आत्मा के परम निश्रेयस् के लिए धर्म की उपासना की जाती है। धर्म को धारण करने में धर्म पालने वाले की रुचि प्रधान है। उसमें लोभ, लालच या धमकी के लिए कोई स्थान नहीं है। आजकल धर्म-परिवर्त्तन करने के लिए धर्मान्ध लोग अनेक प्रकार की लुच्चाई और गुंडापन से काम लेते हैं, जिसमें सचाई नाम मात्र को नहीं होती। पर धर्म लुच्चाई का नहीं, सचाई का है। जिसे अपने धर्म की सचाई पर विश्वास है वह अपने धर्म की सचाई तो दूसरों को समझाएगा पर अपने धर्म में लाने के लिए लुच्चाई का प्रयोग हर्गिज न करेगा। ऐसा करने वाले वही हो सकते हैं जिन्होंने अपने मत की सचाई का अनुभव नहीं किया है और मजहब की मदिरा पीकर बेभान हो रहे हैं।

सचाई के धर्म में किसी को लोभ देकर या दबा कर अपने धर्म में घसीटने की आवश्यकता ही नहीं होती। वहाँ योग्यता पर ही ध्यान दिया जाता है। जैनधर्म ने योग्यता पर ही ध्यान दिया है। जो वह योग्यता प्राप्त कर लेता है उसी को जैन धर्म प्राप्त हो जाता है।

धर्म धारण करने की योग्यता क्या है, इस संबंध में शास्त्र में कहा गया है कि श्रावक वही है जो सम्यक्त्वधारी हो। सम्यक्त्व-समकित—के अभाव में अणुव्रतों का ठीक-ठीक पालन नहीं हो सकता। पाँच अणुव्रत और तीन गुणव्रत श्रावक को जीवन-पर्यन्त पालने योग्य हैं। सामायिक, देशावकाशिक व्रत, तथा पौषधोपवास और अतिथिसंविभाग, यह चार शिक्षाव्रत नियत समय पर अनुष्ठान किये जाते हैं। इन बारह व्रतों को श्रावकधर्म कहा जाता है।

अब प्रश्न होता है कि श्रावकधर्म का मूल क्या है? मूल के बिना किसी भी वस्तु की स्थिति रहना कठिन है। वृक्ष में और कोई भाग न हो तो हानि नहीं, पर मूल अवश्य होना चाहिए। मूल (जड़) होगा तो दूसरे भाग अपने आप उत्पन्न हो जाएँगे। इससे विपरीत, मूल के अभाव में दूसरे भाग अगर होंगे तो भी वे टिक नहीं सकेंगे—उनका नाश होना अवश्यंभावी है।

भाइयो! जैसे अन्य वस्तुओं के मूल पर ध्यान रक्खा जाता है, उसी प्रकार धर्म के मूल पर भी ध्यान रखना नितान्त आवश्यक है। अच्छा, तो धर्म का मूल क्या है? सम्यक्त्व। कहा है—

द्वारं मूलं प्रतिष्ठानमाधारो भाजनं निधिः।
द्विषट्कस्यास्य धर्मस्य, सम्यक्त्वं परिकीर्त्तितम्॥

अर्थात्—जैसे मकान में प्रवेश करने के लिए द्वार की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार धर्म रूपी मकान में प्रवेश करने के लिए 'समकित' द्वार है। जैसे किसी भी वस्तु को रखने के लिए आधार की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार धर्म रूपी द्रव्य को रखने के लिए समकित आधार है। जैसे बहुमूल्य धन की सुरक्षा के लिए तिजोरी उपयुक्त होती है इसी प्रकार धर्म रूपी धन की रक्षा के लिये समकित रूपी तिजोरी उपयुक्त है।

सम्यक्त्व अथवा सम्यग्दृष्टि के अभाव में सत्य-असत्य का समीचीन ज्ञान नहीं होने देता। दृष्टि जब तक मलीन रहती है तब तक निर्मल ज्ञान कैसे हो सकता है ? इसलिए सम्यक्त्व की बड़ी महिमा गाई गई है। एक जगह कहा है—

पशुत्वेऽपि नरायन्ते सम्यक्त्वग्रस्तचेतनाः ।
नरत्वेऽपि पशूयन्ते मिथ्यात्वग्रस्तचेतनाः ॥

अर्थात्—सम्यक्त्व के अभाव में मनुष्य भी पशु के समान आचरण—विवेकविहीन प्रवृत्ति करता है और सम्यक्त्व सहित चेतना वाले पशु भी मनुष्य के समान प्रवृत्ति करते हैं।

अतएव धर्म धारण करने से पहले सम्यक्त्व धारण करना आवश्यक है सम्यक्त्व क्या है ?

प्रशमसंवेगनिर्वेदानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं सम्यक्त्वम् ।
तत्त्वार्थभाष्य अ० १ सू० २

मित्रो ! जिस वस्तु का विचार करना हो उसे समभाव से विचारना चाहिए। समभाव के बिना किसी वस्तु का ठीक निर्णय

नहीं हो सकता। जो समभाव रखना कठिन मानता है वह भूलमें है। मैं समझता हूँ समता रखना सरल है और विषमता रखना कठिन है।

सम्यक्त्वधारी को किसी पर राग-द्वेष न होना चाहिए और न उसमें 'तेरा' 'मेरा' का भाव होना चाहिए। जिसमें 'तेरा' 'मेरा' का भाव होता है उसे सम्यक्त्वधारी नहीं कहा जा सकता।

मान लीजिए एक भाई चाण्डाल है। उसने सम्यक्त्व धारण कर लिया है तो क्या अब भी उसकी अवहेलना करनी चाहिए?

श्रावक—नहीं!

अगर कोई अवहेलना करे तो उसे क्या कहना चाहिए?

श्रावक—मौन रहे!

आप लोग मौन क्यों हो गये? क्या आप समझते हैं कि यदि हम सच्ची बात कह देंगे तो हमारे गले में पड़ जायगी? आपको ऐसा भय नहीं रखना चाहिए। जो बात जैसी हो उसे वैसी ही कह देने में क्या भय है?

जिस मनुष्य ने समकित धारण कर लिया है, वह अगर जन्म से चाण्डाल है तो उसे चाण्डाल ही मानना समकिती का लक्षण नहीं है। चाण्डाल ही मानने वाले को भी अगर समकिती कहेंगे तो फिर मिथ्या-दृष्टि किसको कहना चाहिए? नीच-ऊँच के भेद का खयाल छोड़ कर गुण के अनुसार किसी का मान करना सम्यक्त्व है। इस विषय में गीता ने भी कहा है:—

> विद्याविनयसम्पन्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
> शुनि चैव श्वपाके च, पण्डिताः समदर्शिनः॥

विद्या और विनय अर्थात् ज्ञान और सदाचार से युक्त ब्राह्मण हो या गाय हो, हाथी हो या कुत्ता हो अथवा चाण्डाल हो, जो इन सब में समभाव रखने वाला हो वही समदर्शी पण्डित है।

अगर साधु का वेष धारण करने वाले किसी व्यक्ति में समदर्शीपन न हो तो उसे कोई साधु कहेगा? बीकानेर-नरेश अपने राज्य में ब्राह्मण या चाण्डाल में समान न्याय का आचरण न करें तो उन्हें कोई आदर्श राजा कहेगा?

'नहीं!'

और भी देखिए। डाक्टर का काम चिकित्सा करना है। किसी की भयंकर बीमारी में अगर मल-मूत्र की परीक्षा करना आवश्यक हो और वह घृणा लाये तो क्या वह डाक्टर कहलाने योग्य है?

'नहीं!'

आप लोगों ने सब प्रश्नों का सही उत्तर दे दिया। अब यह बतलाइये कि जो पुरुष या स्त्री-समाज के साथ समभाव का व्यवहार न करे उसे क्या कहना चाहिए?

आप जिस समाज में रहते हैं, उस समाज के प्रत्येक व्यक्ति के साथ समभाव का व्यवहार नहीं करते तो उस समाज के प्रति अत्याचार करते हैं। इस लिए इस प्रश्न का उत्तर देने में भी हिचकिचाते हैं।

मित्रो! स्त्री, पुरुष का आधा अंग है। क्या यह सम्भव है कि किसी का आधा अंग बलिष्ठ और आधा अंग निर्बल हो? जिसका आधा अंग निर्बल होगा उसका पूरा अंग निर्बल होगा। ऐसी स्थिति में आप पुरुष-समाज की उन्नति के लिए जितने उद्योग करते हैं वे सब असफल ही रहेंगे, अगर पहले आपने महिला-समूह की स्थिति

सुधारने का प्रयत्न न किया। आप अंग्रेज सरकार से स्वराज्य की मॉंग करते हैं किन्तु पहले अपने घर में तो स्वराज्य स्थापित कर स्त्रियों के साथ समता और उदारता का व्यवहार करो। आप स्त्रियों के प्रति समभाव न रख कर, उन्हें गुलाम बनाकर स्वराज्य की मॉंग किस मुंह से करते हैं ?

यह स्त्रियाँ जग-जननी का अवतार हैं। इन्हीं की कूंख से महावीर, बुद्ध, राम, कृष्ण आदि उत्पन्न हुए हैं। पुरुष-समाज पर स्त्री-समाज का बड़ा भारी उपकार है। उस उपकार को भूल जाना, उनके प्रति अत्याचार करने में लज्जित न होना घोर कृतघ्नता है।

मैं समभाव का व्यवहार करने के लिए कहता हूँ। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि स्त्रियों को पुरुषों के अधिकार दे दिये जाएँ। मेरा आशय यह है कि स्त्रियों को स्त्रियों के अधिकार देने में कृपणता न की जाय। नर और नारी में प्रकृति ने जो विभेद कर दिया है, उसे मिटाया नहीं जा सकता। अतएव उनके कर्त्तव्यों में भी भेद रहेगा ही। कर्त्तव्य के अनुसार अधिकारों में भी भेद भले ही रहे, मगर जिस कर्त्तव्य के साथ जिस अधिकार की आवश्यकता है वह उन्हें सौंपे बिना वे अपने कर्त्तव्य का पूरी तरह निर्वाह नहीं कर सकतीं।

यहाँ एक बात बहिनों से भी कह देना आवश्यक है। पुरुष आपको आपके अधिकार दे देंगे तो बिना शिक्षा पाये आप उन्हें निभा न सकेंगी। अतएव आपका शिक्षित होना जरूरी है। ऋषभदेव की पुत्री ब्राह्मीदेवी ने ही भारतवर्ष में शिक्षा का प्रचार किया था। आपको इस बात का अभिमान होना चाहिए कि हमारी ही बहिन ने भारत को शिक्षित बनाया था। उस देवी के नाम से भारतीय लिपि अब भी ब्राह्मी लिपि कहलाती है। ब्राह्मी का नाम सरस्वती है और

अन्य ग्रन्थों में उसे ब्रह्मा की पुत्री बतलाया है। ऋषभदेव ब्रह्मा थे और उनकी पुत्री ब्राह्मीकुमारी थी। इस प्रकार दोनों कथनों से एक की बात फलित होती है। जैन-ग्रन्थों से पता चलता है कि ऋषभदेव की दूसरी पुत्री 'सुन्दरी' ने गणित विद्या का आविष्कार एवं प्रचार किया था।

पुरुषो ! स्त्री जाति ने तुम्हें ज्ञानवान और विवेकी बनाया है; फिर किस बूते पर तुम इतना अभिमान करते हो ? किस अभिमान से तुम उन्हें पैर की जूती समझते हो ? बिना किसी कारण के एक उपकारिणी जाति का असह्य अपमान करना, उसका तिरस्कार करना धूर्त्तता और नीचता है। आपकी इन करतूतों से आपका समाज आज रसातल की तरफ जा रहा है। प्रकृति के नियम को याद रखिए, बिना स्त्री-जाति के उद्धार के आपका उद्धार होना अत्यन्त कठिन है।

कभी-कभी विचार आता है—धन्य है स्त्री-जाति ! जिस काम को पुरुष घृणित समझता है और एक बार करने में भी हाय तोबा मचाने लग जाता है, उससे कई गुना अधिक कष्टकर-कार्य स्त्री-जाति हर्ष-पूर्वक करती है। वह कभी नाक नहीं सिकोड़ती। मुंह से कभी 'उफ्' तक नहीं करती। वह चुपचाप, अपना कर्त्तव्य समझ कर, अपने काम में जुटी रहती है। ऐसी महिमा है स्त्रीजाति की !

हे मातृ-जाति ! तू जिसका एक बार हाथ पकड़ लेती है, जन्म-भर के लिए उसी की हो जाती है। मृत्यु पर्यन्त उसका साथ देती है, फिर भी निष्ठुर पुरुषों ने तुझे नरक का द्वार बतला कर अपने वैराग्य की घोषणा की है ! अनेक ग्रन्थकार पुरुषों ने तुझे नीचा दिखलाया है। पुरुष के वैराग्य में स्त्री अगर बाधक है तो स्त्री के

वैराग्य में पुरुष बाधक नहीं है ? फिर क्यों एक की कड़ी से कड़ी भर्त्सना की जाती है और दूसरे को दूध का धुला बताया जाता है ? इस प्रकार की बातें पक्षपात के अतिरिक्त और क्या हैं ?

भाइयो ! संसार में स्त्री और पुरुष का जोड़ा माना गया है। जोड़ा वह है जिसमें समानता विद्यमान हो। पुरुष पढ़ा-लिखा-शिक्षित हो और स्त्री मूर्खा, तो उसे जोड़ा नहीं कह सकते। आप स्वयं विचार कीजिए क्या वह वास्तविक और आदर्श जोड़ा है ?

'नहीं !'

तो फिर आप उसे अशिक्षित क्यों रखते हैं ? क्या आप यह समझते हैं—स्त्री को शिक्षित बना देंगे तो हमारी स्वच्छन्दता में बाधा पड़ेगी ? अगर स्त्रियों को शास्त्रीय-ज्ञान हो जायगा तो वे हमारी त्रुटियों को पहचान जाएँगी ? कितनी भीरुता ! कितनी कायरता ! कितना डरपोकपन !

भाइयो ! स्वराज्य-स्वराज्य चिल्लाने से पहले अपने घर में स्वराज्य स्थापित करो। स्त्रियों को दासता की बेड़ी से मुक्त करो। जब तक तुम स्त्री-जाति को हीन-दृष्टि से देखोगे, उनके कष्टों पर ध्यान न दोगे, तब तक स्वराज्य स्वप्नवत् ही समझना चाहिए। तब तक तुम इसी योग्य रहोगे कि राजा तुम्हें गुलाम बना कर रक्खे और तुम्हारे कान मरोड़-मरोड़ कर तुमसे इच्छानुसार काम लेता रहे।

स्त्री को समानता देने में इतनी हिचकिचाहट क्यों है ? जब तुम्हारा विवाह हुआ था तब पत्नी को कहाँ लेकर बैठे थे ? बोलिए,

बोलिए, घबराते क्यों हैं ? क्या उस समय बराबरी का आसन देकर नहीं बैठे थे ?

'बैठे थे !'

तो अब क्यों पीछे फिरते हो ? क्या आपका उद्देश्य पूर्ण होगया इसीलिए ?

आज तो आपने विवाह-सम्बन्ध में भी बड़ी गड़बड़ी पैदा कर दी है। जैन-शास्त्र दम्पति के लिए 'सरिसवया' विशेषण लगा कर पति-पत्नी की उम्र-सम्बन्धी योग्यता का उल्लेख करता है। पर देखते हैं कि आज साठ वर्ष का बूढ़ा डोकरा बारह वर्ष की लड़की का पाणिग्रहण करते नहीं लजाता ! आप अपने अन्तःकरण से पूछिए—क्या यह जोड़ा है ? आपके दिल की न्याय-परायणता और करुणा कहाँ चली गई है ? किस शास्त्र के आधार पर आप ऐसे कृत्य करते हैं ? आपके शास्त्र में 'असरिसवया' (विसदृश उम्र वाले) का पाठ आया होगा !

प्रधानमन्त्रीजी ! क्या पुरुष-समाज के यह कृत्य शोभाजनक हैं ?

प्रधानमन्त्री (सर मनु भाई मेहता)—जी नहीं।

प्रधानमन्त्रीजी ! लोग न मेरी बात मानते हैं और न शास्त्र की बात पर ध्यान देते हैं। इसका उपाय अब आप ही कर सकते हैं !

भाइयो ! आपके प्रति मेरे हृदय में लेश-मात्र भी द्वेष नहीं है। द्वेष होता तो आपके हित की बात ही क्यों करता। इसके विरुद्ध समाज की अवस्था देखकर मुझे करुणा आती है। उसी से प्रेरित होकर मैं आपकी बात दीवान साहब से कहता हूँ।

श्रावक—आपने महान् उपकार किया !

आपकी आँख में थोड़ी-सी खराबी हो जाती है तो आप डाक्टर को बुलाते हैं। उसे फीस भी देते हैं और उसका उपकार भी मानते हैं। पर आप मूल को भूल जाते हैं। थोड़ा-सा उपकार करने वाले का आप इतना मान-सम्मान करें और मूल वस्तु बनाने वाली प्रकृति की कुछ भी पर्वा न करें, यह कितनी बुरी बात है ? अगर आप प्रकृति के नियमों को मानपूर्वक पालन करेंगे तो आपको किसी प्रकार का कष्ट न होगा और सर्वत्र शान्ति का संचार होगा।

मित्रो ! मैंने आपसे स्त्री-शिक्षा और स्त्री-स्वातन्त्र्य के सम्बन्ध में कहा है, इसका मतलब आप कुशिक्षा या स्वच्छन्दता न समझें, जिससे जातीय-जीवन नष्ट-भ्रष्ट और कलंकित होता है। आप उन्हें प्राकृतिक नियम के अनुसार शिक्षित बनाकर स्वतन्त्र बनावें। अगर आप ऐसा न करेंगे तो समझ लीजिए कि आप प्रकृति के नियमों की अवहेलना करते हैं। प्रकृति की अवहेलना करने वालों का गौरवपूर्ण अस्तित्व रहना बहुत कठिन है।

बहुत से भाई प्राकृतिक नियमों से बिलकुल अनभिज्ञ हैं। वे परम्परागत रूढ़ि को ही प्राकृतिक नियम मान रहे हैं, जैसे घूंघट। घूंघट कोई प्राकृतिक नियम नहीं है और न अनादि काल से चली आई प्रथा है। भारतवर्ष में एक समय ऐसा आया था जब स्त्रियों के लिए घूंघट निकालना अनिवार्य हो गया था। इस प्रकार विशेष परिस्थिति उत्पन्न होने पर घूंघट उपादेय था, पर अब उसकी आवश्यकता नहीं है। घूंघट अब निरुपयोगी और स्वास्थ्य को हानिकर है। शास्त्रों में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में स्त्रियाँ घूंघट नहीं निकालती थीं।

स्त्री-शिक्षा की आवश्यकता का प्रतिपादन मैं कर चुका हूँ। पर यह समझ लेना चाहिए कि वह शिक्षा कैसी हो ? शिक्षा लाभदायक भी हो सकती है और हानिकारक भी हो सकती है। बुद्धिमान् पुरुषों को ऐसी शिक्षा प्रणाली कायम करनी चाहिए जिससे दोषों से बचाव हो सके और लाभ ही लाभ उठाया जा सके। एक कवि ने अन्योक्ति में कहा है :—

> तटिनि ! चिराय विचारय, विन्ध्यभुवस्तव पवित्रायाः ।
> शुष्यन्त्या अपि युक्तं, किं खलु रथ्योदकाऽऽदानम् ॥

अर्थात्–हे नदी ! जरा विचार करो कि विंध्याचल से तुम्हारा निकास हुआ है। तुम बड़ी पवित्र हो। ऐसी अवस्था में सूख जाने की नौबत आने पर भी क्या गली-कूचों का गँदला पानी ग्रहण करना तुम्हारे लिए योग्य है ? नहीं।

कवि का आशय यह है कि नदी सूख भले ही जाय पर उसे गँदला पानी ग्रहण करना उचित नहीं है। इसी प्रकार कुशिक्षा या कुज्ञान से अशिक्षा या अज्ञान भला है।

स्त्री-समाज में दुष्टाओं के गंदे विचारों का प्रवाह कितना भयंकर दृश्य उपस्थित कर देता है, इस सत्य की कल्पना आप कैकेयी के समय का स्मरण करके कर सकते हैं।

कैकेयी के साथ उसके पीहर से मन्थरा नाम की एक दासी आई थी। उसने महल की अटारी पर चढ़कर रामचन्द्र के राजतिलक की नगर में होने वाली तैयारी देखी। उसके दिमाग में कुछ विचित्र भाव उदित हुए। वह दौड़ती-दौड़ती कैकेयी के पास आई। बोली—अरी अभागिनी ! तेरे सर्वनाश का समय आ पहुँचा है और तुझे

किसी बात का होश ही नहीं है। तू इतनी निश्चिन्त बैठी है। तुझे नहीं मालूम, अयोध्या में आज यह उत्सव किस लिए हो रहा है? संपूर्ण अयोध्या आज ध्वजा-पताकाओं से क्यों सुशोभित हो रही है? सुन, कल प्रातःकाल राजा दशरथ राम को राजसिंहासन पर बिठला देंगे।

सरल-हृदया कैकेयी पर इन वचनों का कुछ भी असर न होता देख मन्थरा फिर विष उगलने लगी—मेरे लिए तो राम और भरत दोनों समान हैं। पर तू अपने पैर पर कुल्हाड़ा मार रही है। तू अपना भविष्य अन्धकारमय बना रही है।

मन्थरा के चेहरे पर क्रोध और विरक्ति के चिह्न देख कर पहले तो सरल हृदया कैकेयी कुछ न समझी और पूछने लगी—आज तो तुझे प्रसन्न होना चाहिए; पर देखती हूँ कि तू बड़ी चिन्तित हो रही है। तेरी बातें मेरी समझ में ही नहीं आ रही हैं। मुझे राम, भरत की तरह ही प्यारे हैं। कौशल्या बहिन की भाँति ही वह मेरी सेवा करते हैं। राम की ओर से मुझे किस बात का डर है?

दुष्टमना मन्थरा ने उत्तर दिया—राजा तेरे मुंह पर तेरा आदर करते हैं पर हृदय में वे कौशल्या के प्रेमी हैं। तुझे मालूम है कि राम के राज्याभिषेक का समाचार भरत को क्यों नहीं दिया गया? अरी भोली! तू राजा के जाल को नहीं समझ सकती। वास्तव में वे तुझे तनिक भी नहीं चाहते। अगर ऐसा न होता तो इतना छल-कपट क्यों करते?

दुष्टों के संसर्ग से क्या-क्या अनर्थ नहीं होते? कैकेयी के हृदय पर मन्थरा के वचनों का असर हो गया।

मंत्रियों को आवश्यक सूचना देकर जिस समय राजा दशरथ सर्व-प्रथम कैकेयी के महल में गये, सहसा कैकेयी का विकराल रूप देखकर सहम उठे। जो रानी मेरे लिये सदा सिंगार किये करती थी, महल के द्वार पर पैर धरते ही मुस्कराती हुई सामने आजाती थी और हाथ पकड़ कर मुझे भीतर ले जाती थी, आज उसने यह विकराल रूप क्यों धारण किया है ? आज वह आँख उठाकर भी मेरी ओर नहीं देखती। केश बिखरे हुए हैं। कपड़े मैले-कुचैले और और अस्तव्यस्त हैं। मुंह उतरा हुआ, होठों पर पपड़ी जमी हुई और नाक से दीर्घश्वास ! यह सब क्या मामला है ?

राजा ने डरते-डरते उसके शरीर को हाथ लगा कर पूछा— प्रिये ! आज तुम नाराज़ क्यों हो ? तुम्हारी यह हालत क्यों है ? मैं राम की शपथ पूर्वक कहता हूँ—'जो तुम चाहोगी, वही होगा।'

अब तक कैकेयी चुप थी। 'राम' शब्द राजा के मुंह से सुनते ही सर्पिणी-सी फुंकार कर बोली—मैं और कुछ न हीं चाहती। आपने पहले दो वचन माँगने को कहे थे, आज उन्हें पूरा कर दीजिए।

दशरथ—अवश्य, बोलो क्या चाहती हो ?

कैकेयी—पहले अच्छी तरह सोच लीजिए, फिर हाँ भरिये।

दशरथ—प्रिये ! सोच लिया है। माँगो।

कैकेयी—फिर नाहीं तो न की जायगी ?

दशरथ—वचन देकर मुकर जाना रघुकुल की मर्यादा के विरुद्ध है। तुम निर्भय होकर माँगो।

कैकेयी—अच्छा तो सुनिये। कल प्रातःकाल होते ही राम को चौदह वर्ष के वनवास के लिए भेज दीजिए और भरत को राज-सिंहासन पर आरूढ़ कीजिए।

कैकेयी के हृदयवेधक शब्द सुनते ही दशरथ मूर्छित हो गये।

भाइयो! बहिनो! जो कैकेयी दशरथ को प्राणों से अधिक प्यार करती थी और राम को भरत से ज्यादा चाहती थी, उसीने आज दुष्ट-शिक्षा के कारण कैसा भयानक दृश्य उपस्थित कर दिया!

प्रातःकाल, अरुणोदय के समय, राम माता कैकेयी के महल में दर्शन करने जाते हैं। वहाँ कुहराम मचा हुआ देख नम्रतापूर्वक पूछते हैं—माताजी! आज आप उदास क्यों दीख पड़ती हैं? पिताजी बेभान-से क्यों पड़े हुए हैं?

कैकेयी चुपचाप बैठी रही। उसके मुंह से कुछ नहीं निकला!

रामचन्द्र फिर बोले—माताजी, बोलिए। आज तो आप बोलती भी नहीं।

कैकेयी—राम, तुम बड़े मीठे हो। जान पड़ता है, बाप-बेटे ने एक ही शाला में शिक्षा पाई है। पर तुम्हारी चापलूसी की बातों में अब मैं नहीं आने की!

राम—माताजी, क्षमा कीजिए। मेरी समझ में कुछ नहीं आया। कृपा कर मुझे साफ़-साफ़ सुनाइए।

कैकेयी—समझे नहीं? समझना यही है कि तुम राजाजी के पुत्र हो और भरत नहीं। कौशल्या राजाजी की रानी हैं, मैं नहीं। मैं तो दासी के सदृश हूँ। अगर भेदभाव न होता तो मेरे भरत को राज्य

क्यों नहीं मिलता ? मैंने तुम्हारे पिताजी से भरत के लिए राज्य माँगा, बस वे नाराज हो गये ।

राम—विशाल हृदय राम—कैकेयी की कठोर बात सुन कर कहते हैं—माताजी ! आप ठीक कहती हैं । भरत को अवश्य राज्य मिलना चाहिए । इस में बुरा क्या कहा ? मैं आपका अनुमोदन करता हूँ । भरत मेरा भाई है । आपने किसी पराये के लिये थोड़ा ही राज्य माँगा है !

राम वनवास के लिए तैयार हो गये । उन्होंने राज्य तिनके की तरह त्याग दिया । उसी निस्पृहता के कारण शान्ति के दूत राम को लोग पुरुषोत्तम और ईश्वर कहते हैं । सच है, प्रकृति का विजय करने वाला ही महापुरुष कहलाता है ।

राम के वनवास की खबर जब सीता को हुई तो वह पुलकित हो उठी । उसने सोचा—मैं कितनी भाग्यशालिनी हूँ । मुझे सेवा करने का कैसा अच्छा अवसर मिला है ! गृहवास में दास—दासियों की भीड़ के कारण पतिसेवा का पूरा सौभाग्य प्राप्त न होता था, वन-वास करने से यह सौभाग्य प्राप्त हो सकेगा ।

बहिनो ! सीता के त्याग की तरफ़ ध्यान दीजिए । वह आज की नारी नहीं थी कि सुख में राजी-राजी बोले और विपदा पड़ने पर मुंह मोड़ ले । इसीलिए कहते हैं—राम में जो शक्ति थी वह सीता की शक्ति थी ।

भगवती सीता ने कभी कष्ट का अनुभव न किया था । वह चाहती तो अपने मायके चली जा सकती थी या अयोध्या में ही रह सकती थी । उसके लिए कहीं भी किसी वस्तु की कमी नहीं थी । पर

नहीं, सीता को त्याग का आदर्श खड़ा करना था, जिसके सहारे स्त्री समाज त्यागभावना और पतिपरायणता का पाठ सीख सके।

राम और सीता को वन जाते देख वीर लक्ष्मण भी तैयार हो गये। उनकी माता सुमित्रा ने उसे उपदेश देते हुए कहा—जाओ बेटा, राम को दशरथ के समान समझना, जानकी को मेरी जगह मानना, वन को वन नहीं अयोध्या मानना, जाओ पुत्र! तुम्हारा कल्याण हो।

अहा! इन रानियों की तारीफ किस प्रकार की जाय! आज की माताएँ अपने पुत्रों को कैसी नीच शिक्षा देती हैं। बहिनो! इन रानियों के उदार चरित का अनुकरण करो, तुम्हारा घर स्वर्ग बन जायगा।

राम, लक्ष्मण और सीता ने वन की ओर प्रस्थान कर दिया। दशरथ का देहान्त हो गया। जब भरत की फटकार मिली तब कैकेयी की बुद्धि ठिकाने आई। वह पछताने लगी—'हाय! मैंने यह क्या कर डाला! मैंने अपनी सोने की अयोध्या को श्मशानभूमि बना दिया और प्यारे राम को वनवास दिया! आह! कितना गजब हो गया! हाय! मैं राम को कैसे मुंह दिखला सकूंगी। ओ मेरे राम, क्या तुम मुझे क्षमा कर दोगे? मैं किस मुंह से राम को 'मेरे राम' कह सकती हूँ? जिसे पराया मानकर मैंने वनवास के लिए भेज दिया, उसे अपना मानने का मुझे क्या अधिकार रहा? राम! राम! ओ राम! क्या तुम इस दुर्घटना को भूल सकोगे? क्या तुम फिर मुझे माता कह कर पुकारोगे? हाय! मैं दुष्टा हूँ। मैं पापिनी हूँ। मैं पति और पुत्र की द्रोहिनी हूँ। मैंने निष्कलंक सूर्यवंश को कलंकित किया! मेरे प्यारे राम! इस अभागिनी माता की निष्ठुरता को भूल जाना!

भरत भी मुझे 'माँ' नहीं कहता तो राम मुझे कैसे माता मानेगा ? मैंने उसके लिये क्या कसर छोड़ी है ? फिर भी राम मेरा विनीत बेटा है। वह अपनी माता को माफ कर देगा।

इस प्रकार अपने आपको धिक्कार कर कैकेयी ने भरत से कहा– 'मुझे रामचन्द्र से मिला दो। मैं भूली हुई थी। मैंने घोर पाप किया है। मेरी बुद्धि भ्रष्ट होगई थी। राम को देखे बिना मेरा जीवन कठिन हो जायगा। अगर तुमने राम से मुझे न मिलाया तो मैं प्राण त्याग दूंगी।

पहले तो भरत ने साफ इन्कार कर दिया, पर बाद में यह जान कर कि माता का अहंकार चूर-चूर हो गया है और वह सच्चे हृदय से पश्चात्ताप कर रही हैं, रामचन्द्र के पास लेजाना स्वीकार किया।

भरत चित्रकूट पहुँचे। कैकेयी मारे लज्जा के राम के सामने न जा सकी। वह एक वृक्ष की आड़ में खड़ी हो गई। उसकी दोनों आँखों से आँसुओं की धारा प्रवाहित हो रही थी। वह मन ही मन सोचने लगी—बेटा राम ! क्या अब मेरा अपराध क्षमा नहीं किया जा सकता ? क्या तुम मेरा मुंह भी देखना पसन्द न करोगे ? मैं तुम से मिलने आई हूँ, पर सामने आने का साहस नहीं होता। राम ! क्या इस अपराधिनी माता को दर्शन न दोगे ? मैं जानती हूँ, कि हाय ! मैंने अपनी लाडली बहू जानकी को अपने हाथ से छाल के वस्त्र पहना कर वन की ओर रवाना किया है। इससे बढ़कर निठुरता और कोई क्या कर सकता है ?

रामचन्द्र माता कैकेयी का विलाप सुन कर घूमते-घूमते उसके पास जा खड़े हुए और 'वंदे मातरम्' कह उसके पैरों में गिर पड़े।

कैकेयी चौंक उठी। दुःख, पश्चात्ताप और लज्जा के त्रिविध भावों मे उसका हृदय जलने लगा। प्रेम के आँसू बहाती हुई कैकेयी ने कहा—

मैं नहीं जानती थी तुम को, तुम ऐसे हो तुम इतने हो।
उसका पासंग भी नहीं हूँ मैं, गंभीर कि तुम जितने हो॥
कौशल्या, तेरा राम नहीं, यह राम तो मेरा बेटा है।
मेरा यह धन है जीवन है, मेरा यह प्राण कलेजा है॥
मंथरा रांड की संगति से, हा! मैंने क्या उत्पात किया।
अपने ही हाथों अपने बेटे पर वज्राघात किया॥
अब दुनिया की बहिनो सोखो, नीचों को मुंह न लगाना तुम।
अब बहू-बेटियो! ऐसों की, संगति में मत फँस जाना तुम॥
जो दुष्टा दासी हैं वे स्वांग नित नया भरती हैं।
बरबाद घरों को बहुओं को, नाना प्रकार से करती हैं॥
हो मुझसे घृणा तुम्हें तो मेरे जीवन से शिक्षा लो तुम।
दुष्ट अनुचरी सहचरी को, घर में भी मत घुसने दो तुम॥

राम रूपी प्रचण्ड सूर्य के तेज से कैकेयी के हृदय में आये हुए दुष्ट विचार रूपी गंदला जल सूख गया। कैकेयी का कुलषित हृदय पिघल कर आँखों के रास्ते बह गया। कैकेयी के आँसुओं ने उसके अन्तःकरण की कालिमा धोकर साफ कर दी। कैकेयी के पश्चात्ताप की आग में उसकी मलीनता भस्म हो गई। कैकेयी अब सोने के समान निर्मल बन गई।

अनेक भाई विपत्ति को अनिष्ट मानते हैं और उससे बचने के लिए परमात्मा से प्रार्थना करते हैं। पर सूक्ष्म दृष्टि से देखा जय तो बात ऐसी नहीं है। विपत्ति आत्मा का बल बढ़ाने वाली सम्पत्ति है।

विपत्ति के साथ संघर्ष करके पुरुष महापुरुष बनता है। विपत्ति सोई हुई मानवीय शक्तियों को जगाती है। विपत्ति मनुष्य के ओज की, पुरुषार्थ की, धैर्य की और साहस की कसौटी है। विपत्ति सफलता की सखी है। जो महाप्राण पुरुष विपत्ति को सहर्ष अङ्गीकार करता है, उसी को सफलता प्राप्त होती है। जब तक मनुष्य विपत्ति का भोग नहीं बनता तब तक उसका व्यक्तित्व पूर्णरूपेण पुष्ट नहीं होता। कहाँ तक कहें, इतिहास बतलाता है कि मनुष्य की सम्पूर्ण महिमा का श्रेय विपत्ति को है। रामचन्द्र वनवास की विपत्ति न भोगते और राज महलों में निवास करते हुए सम्पत्ति की गोद में क्रीड़ा करते रहते तो कौन उनकी रामायण बनाने बैठता ?

कैकेयी ने रामचन्द्र से कहा—वत्स, अयोध्या लौट चलो और राज्यभार अपने सिर पर ले लो।

राम—माताजी, इस समय अयोध्या लौटना, अयोध्या से त्याग के आदर्श को देश निकाला देना होगा। जहाँ त्याग का आदर्श न होगा वहाँ शान्ति नहीं रह सकती।

कैकेयी और राम में बहुत देर तक इसी प्रकार की बातें होती रहीं। राम अपने संकल्प पर दृढ़ थे और कैकेयी उन्हें मनाने में व्यस्त थी। एक ओर माता की नाराजी और दूसरी ओर आदर्श का हनन। तिस पर मुसीबत यह थी कि भरत राज्य स्वीकार न करते थे। जटिल समस्या थी। वह कैसे हल हो ?

इतने में सीता को युक्ति सूझी। राम से कहा—नाथ, भरत राज्य स्वीकार न करेंगे तो अराजकता फैलना अवश्यंभावी है। इस अनिष्ट को टालने के लिए अगर आप अपने सिर पर राज्यभार लेकर फिर भरत को सौंप दें तो क्या हानि है ? आपका दिया हुआ राज्य

भरत संभाल लेंगे। इससे आपका प्रण भी भंग न होगा और अराजकता भी न फैलेगी।

मित्रो! भरत जैसे भाई अभी कहीं दिखलाई पड़ते हैं? आज हाथ भर जमीन के टुकड़े के लिए एक भाई दूसरे भाई पर हाथ साफ करने में व्यस्त दिखाई देता है। सड़ी-सड़ी बातों पर मुकदमेबाजी होती है। लाखों रुपये कचहरियों में भले ही नष्ट हो जाएँ पर भाई के पल्ले पैसा भी न पड़े। यह है आज की भ्रातृभावना!

दीवान साहब के कुटुम्ब की यहाँ उपस्थित यह शिक्षित बहनें अगर बीकानेर प्रान्त की बहिनों को अपने समान बनाने का प्रयत्न करें तो बहुत बड़ा काम सहज ही हो सकता है।

हमें मंथरा के समान शिक्षिकाओं की आवश्यकता नहीं है। शिक्षा में दोषों का प्रवेश न होने पाए, इस बात का पूरा ध्यान रखना आवश्यक है। निर्दोष स्त्रीशिक्षा का सूर्य उदय होने पर समाज का अंधकार नष्ट हो जायगा और समाज सुख-शान्ति का अधिकारी बनेगा।

भीनासर
६—११—२७

१३

सत्याग्रह

सकडालपुत्र ने भगवान् महावीर का धर्म अंगीकार कर लिया है, यह सुनकर उसका पूर्वगुरु गोशालक अपने धर्म पर पुनः आरूढ़ करने के लिए उसके पास आया।

मित्रो! यह कह देना आवश्यक है कि जिसकी धर्म पर पूरी आस्था हो जाती है उसे फिर कोई डिगा नहीं सकता। महावीर के धर्म में और गोशालक के धर्म में एक बड़ा अन्तर यह था कि महावीर आत्मा को कर्त्ता मानते थे और संसार में इसी सिद्धान्त का प्रचार कर रहे थे, जब कि गोशालक इस सिद्धान्त से बिलकुल अनभिज्ञ था। वह नियतिवादी था। उसका कहना था कि जो कुछ होता है वह होनहार अर्थात् भवितव्यता से ही होता है। सकडाल भी पहले इसी मत को मानने वाला था परन्तु अब उसे इस पर विश्वास नहीं रहा था।

अब वह दृढ़तापूर्वक यह मानने लगा था कि जो कुछ होता है वह आत्मा के कर्म का ही फल है।

आत्मा को कर्त्ता मानने वाले भारत में और भी बहुत से धर्म-नायक हो गये हैं। गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को ऐसा ही उपदेश दिया था—

> उद्धरेदात्मनात्मानं, नात्मानमवसादयेत् ।
> आत्मैवात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥

अर्थात्—हे अर्जुन! अपने आत्माके द्वारा ही आत्मा का उद्धार करो। आत्मा ही अपना बन्धु और आत्मा ही अपना रिपु है।

गीता के इस उद्धरण से आप लोग समझ गये होंगे कि महावीर प्रभु के उपदेश में और श्रीकृष्ण के उपदेश में कितनी समानता है। 'अप्पा कत्ता विकत्ता य' का उपदेश 'उद्धरेदात्मनात्मानं' से बिलकुल मिलता-जुलता है।

इस सिद्धान्त के विरुद्ध होनहार को कर्त्ता मानने पर हमारे सामने ऐसे अनेक प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं, जिनका निराकरण नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए, कल्पना कीजिए एक लड़का स्कूल में पढ़ने जाता है। प्रश्न यह है कि उसे पढ़ाने-लिखाने, प्रश्नोत्तर करने आदि की क्या आवश्यकता है? भवितव्यता का मत मान लेने पर इस माथापची की कुछ भी उपयोगिता नहीं रह जाती। अगर लड़का विद्वान होना है तो वह भवितव्यता के अनुसार स्वयं विद्वान् हो जायगा। पर लोकव्यवहार में हम इससे सर्वथा विपरीत देखते हैं। शिक्षक लड़के को पढ़ाता है और लड़का स्वयं पुरुषार्थ करता है

तब वह पढ़-लिख कर विद्वान् बनता है। अगर शिक्षक और शिष्य दोनों उद्योग करना छोड़ दें और होनहार के भरोसे बैठे रहें तो परिणाम क्या आयगा, यह समझने में कठिनाई नहीं हो सकती। इससे यही परिणाम निकलता है कि कर्त्ता के बिना कर्म होना शक्य नहीं है। मिट्टी में घड़ा बन जाने की शक्ति अवश्य है, पर कुंभार के बिना घड़ा बन नहीं सकता। भवितव्यता पर निर्भर रह कर अगर बहिनें चूल्हे के पास आटा रख दें तो रोटी बन सकती है? मैं समझता हूँ, भवितव्यता के भरोसे बैठ कर सारा संसार यदि चार दिन के लिए अपना अपना उद्योग छोड़ दे तो संसार की ऐसी दुर्गति हो कि जिसका ठिकाना न रहे। संसार में घोर हाहाकार मच जायगा। इस प्रकार भवितव्यता का सिद्धान्त अपने आपमें पोच ही नहीं है वरन् वह मानवसमाज की उद्योगशीलता में बड़ा रोड़ा है और लोगों को निकम्मा एवं आलसी बनाने वाला है। यही सब सोच कर सकडाल ने भगवान् महावीर का सिद्धान्त भक्तिपूर्वक स्वीकार कर लिया।

ज्यों ही गोशालक सकडाल के पास पहुँचा, सकडाल ने समझ लिया कि मेरे यह पूर्वगुरु फिर अपना सिद्धान्त मनवाने आये हैं। सकडाल ने गोशालक की तरफ से मुंह फेर लिया। उसके ललाट पर सल पड़ गये। गोशालक मूर्ख तो था नहीं। वह बड़ा बुद्धिमान् और विचक्षण था। वह सकडाल का अभिप्राय ताड़ गया।

मित्रो! यह विचारणीय है कि गोशालक सकडाल का पूर्वगुरु था। फिर उसने अपने पुराने गुरु के प्रति ऐसा व्यवहार क्यों किया? इसका कारण यह है कि सकडाल को विश्वास हो गया था कि गोशालक का सिद्धान्त मेरे लिए और जगत् के लिए अकल्याणकारी है। ऐसे सिद्धान्तवादी के प्रति विनय-भक्ति प्रदर्शित करना उसके सिद्धान्त

को मान लेना है। इससे बड़े अनर्थ की संभावना रहती है। गोशालक के प्रति सकडाल के इस व्यवहार का यही कारण था। इसी का नाम असहयोग है।

जिस प्रकार धर्म-सिद्धान्त के लिए मनुष्य को असहयोग करना आवश्यक है, उसी प्रकार लौकिक नीतिमय व्यवहारों में अगर राज्य-शासन की ओर से अन्याय मिलता हो तो ऐसी दशा में राज्यभक्ति-युक्त सविनय असहकार—असहयोग—करना प्रजा का मुख्य धर्म है। वह प्रजा नपुंसक है जो चुपचाप अन्याय को सहन कर लेती है और उसके विरुद्ध चूं तक नहीं करती। ऐसी प्रजा अपना ही नाश नहीं करती परन्तु उस राजा के नाश का भी हेतु बन जाती है, जिस की वह प्रजा है। जिस प्रजा में अन्याय के पूर्ण प्रतीकार का सामर्थ्य नहीं है उसे कम से कम इतना तो प्रकट कर ही देना चाहिए कि अमुक कानून या कार्य हमारे लिए हितकर नहीं है और हम उसे नापसंद करते हैं।

प्रजा को बिगाड़ना राजनीति नहीं है। राजा वही कहलाता है जो प्रजा की सुव्यवस्था करे। जो राजा प्रजा की सुव्यवस्था नहीं करता और प्रजा को कुव्यसनों में डालता है, जो अपनी आमदनी बढ़ाने के लिए आबकारी जैसे प्रजा के स्वास्थ्य को नष्ट करने वाले विभाग स्थापित करता है, फिर भी प्रजा अगर चुपचाप बैठी रहती है तो समझना चाहिए वह प्रजा कायर है।

प्रजा के हित का नाश करने वाली बातें कानून के द्वारा न रोकने वाला राजा, राजा कहलाने योग्य नहीं है।

राजा के भय से अपकारक कानून को शिरोधार्य करना धर्म का

अपमान करना है। धर्मवीर पुरुष राजा के अपकारक कानून को ही नहीं ठुकराता, पर राजा और प्रजा के किसी खास भाग द्वारा भी अगर कोई ऐसा कानून बनाया गया हो तो उसे भी उखाड़ फैंकने की हिम्मत रखता है।

कोणिक राजा द्वारा हार और हाथी लेने पर चेडा-श्रावक ने क्या किया था , जरा इस पर दृष्टि डालिए। उसने राजा और राज्य के विरुद्ध इस अन्याय का प्रतीकार करने के लिए लड़ाई छेड़ दी। धर्मवीर थोथी शान्ति पसन्द नहीं करते। वे जानते हैं, थोथी शान्ति से सत्य का खून होता है।

प्रायः आजकल के श्रावक थोथी शान्ति के हिमायती होते हैं। 'अरे कहीं लड़ाई हो जायगी, दंगा मच जायगा, लोग अपने विरुद्ध हो जाएँगे, ऐसा हो जायगा, वैसा हो जायगा, हमें तो चुप्पी साध लेना चाहिए., बिगाड़ हो तो अपना क्या, सुधार हो तो अपना क्या,' इत्यादि कहा करते हैं। यह उनकी वास्तविक शान्तिप्रियता नहीं है। यह शान्ति का ढोंग है और अन्दर धधकती हुई आग फैलने में सहायक होना है।

सम्भव है, आप मेरी बात का रहस्य न समझे हों। यदि ऐसा ही हो तो यह दोष आपका नहीं, मेरा है, क्योंकि मेरी तपस्या अब तक इतनी निर्बल है कि, मैं आपको समझाने में असमर्थ हो जाता हूँ।

मेरे कथन का आशय यह है कि मनुष्य को हर हालत में सत्य का पालन करना चाहिए। सत्य का पालन न करने वाले के कार्य, चाहे वे कैसे ही हों, नाटक के सदृश हैं। सत्य का पालन करने के

लिए आपको चाहिए कि अगर मुझ में कोई पॉलिसी नजर आती हो तो मुझ से अलग रहें और मुझे चेतावें। ऐसा न करने से साधु भी असाधु बन जाता है। सत्य के बिना कभी कोई वस्तु टिक नहीं सकती। अरणक के जहाज में हजारों आदमी बैठे थे। देवता ने कहा—'तू असत्य बोल, नहीं तो जहाज उलटता हूँ।' पर अरणक अटल रहा। वह असत्य न बोला। अगर अरणक असत्य बोलता तो जहाज टिक सकता था ? सत्य ही के प्रभाव से जहाज बचा था।

सारी राजगृही नगरी सुदर्शन पर हँसती थी, पर सुदर्शन ने किसी की परवाह न की। उसे सत्य पर भरोसा था और सचमुच ही सत्य की विजय हुई। सुदर्शन पर हँसने वालों को अपने ही ऊपर हँसने का अवसर आते देर न लगी।

कौरवों और पाण्डवों के युद्ध में महाविचक्षण भीष्म और द्रोण आदि दुर्योधन की तरफ थे। वे जानते थे कि दुर्योधन का पक्ष न्याय-संगत नहीं है और युधिष्ठिर न्याय-पक्ष पर है। पर वे लोग दुर्योधन का अन्न खाते थे, इसलिए उसके विरुद्ध शस्त्र उठाना अनुचित समझते थे। फिर भी उन्होंने अपने हृदय के भाव स्पष्ट रूप से बिना हिचकिचाहट दुर्योधन के आगे प्रकट कर दिये।

मैं यह अभी कह चुका हूँ कि अन्याय के प्रति असहयोग न करने से बड़ा भारी अनर्थ हो जाता है। इस कथन की पुष्टि के लिए महाभारत के युद्ध पर ही दृष्टि डालिए। अगर भीष्म और द्रोण आदि महारथियों ने कौरवों से असहयोग कर दिया होता तो इतना भीषण रक्तपात न होता और इस देश के अधःपतन का श्रीगणेश भी न होता। अन्याय से असहयोग न करने के कारण रक्त की नदियाँ बहीं

और देश को इतनी भीषण क्षति पहुँची कि सदियाँ व्यतीत होजाने पर भी वह सँभल न सका।

कौन-सा कार्य न्यायसंगत है और कौन-सा अन्याययुक्त है, किस कानून से प्रजा के कल्याण की संभावना है और किससे अकल्याण की, यह बात प्रत्येक मनुष्य नहीं समझ सकता। समझदारों को चाहिए कि वे प्रजा को इस बात का ज्ञान कराएँ। जो व्यक्ति समय-समय पर प्रजा को अपनी भलाई-बुराई का ज्ञान कराते रहते हैं, और बुराई से हटाकर भलाई की ओर ले जाते हैं, जो जनता का पथ-प्रदर्शन करते हुए स्वयं आगे-आगे इस पथ पर चलते हैं, उन्हें जनता अपना पूज्य नेता मानती है और उन्हें श्रेष्ठ पुरुष मान कर उनके पीछे-पीछे चलती है। गीता में कहा है—

> यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
> स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते॥

मित्रो! सकडाल, जाति का कुंभार होने पर भी श्रेष्ठ पुरुषों में गिना जाता था। अगर वह गोशालक के सिद्धान्तों से असहयोग न करता तो दूसरे भोले लोग इस सिद्धान्त के आगे सिर झुका देते और अकर्मण्य बन जाते।

आप स्वयं विचार कीजिए कि कर्त्ता को भूल जाने से क्या काम चल सकता है? सिर्फ होनहार के भरोसे बैठे रहने से कोई काम बन सकता है? मैं अभी कह चुका हूँ कि होनहार के भरोसे रोटी बनाने का काम दो चार रोज के लिए भी अगर यह बहिनें स्थगित कर दें तो कैसी स्थिति उत्पन्न हो जाय? होनहार पर निर्भर रहकर अगर पुरुष एक दिन भी वस्त्र धारण न करें तो कैसी बीते? नंगा रहने के

लिए किसे दंड दिया जा सकता है ? जब होनहार को ही स्वीकार कर लिया तो किसी भी अपराध का कर्त्ता कोई मनुष्य नहीं ठहरता।

नियतिवादी के सामने कोई डंडा लेकर खड़ा हो जाय और उससे पूछे—'बताओ, यह डंडा तुम्हारे सिर पर पड़ेगा या कमर पर ? वह क्या उत्तर देगा ? यही कि जहाँ तुम मारना चाहोगे वहीं ! इससे क्या यह मतलब न निकला कि नियति (होनहार) कर्त्ता नहीं है। जहाँ मारने वाला मारना चाहेगा वहीं डंडा पड़ेगा, इससे सिद्ध हुआ कि होनहार मारने वाले के हाथ में है।

आप लोग महावीर के शिष्य होकर भी कहाँ तक कहते रहोगे कि—'हम क्या करें ? हमारे हाथ में क्या है ? जो कुछ होना है वह तो होकर ही रहेगा।' कभी आप काल पर उत्तरदायित्व थोप देते हैं—'क्या करें, समय ही ऐसा आ गया है ! 'और कभी स्वभाव का रोना रोने लगते हैं—'लाचारी है, इसका स्वभाव ही ऐसा पड़ गया है !' खेद ! आप महावीर के अनुयायी होकर जड़ पर जबावदारी डालते हैं ! भूल होती है आपकी और जबावदारी डाली जाती है जड़ पर। यह कैसी उल्टी समझ है ? आप यह क्यों नहीं कहते कि दोष हमारा है। हम स्वयं ऐसे हैं !

जो मनुष्य। अपना दोष स्वीकार कर लेता है उसकी आत्मा बहुत ऊँची चढ़ जाती है। अपनी भूल बताने वाले को अपना गुरु मानो और भूलों का साहस के साथ निराकरण करो तो फिर देखना तुममें कितना चमत्कार आ जाता है।

किसान वर्षा ऋतु आने पर खेत में हल न चलावे तो क्या होगा ? अगर वह सोचने लगे कि खेती होनी है, धान्य उपजना है तो

कौन रोक सकता है ? अगर धान्य नहीं उपजता है तो मेरे प्रयत्न करने पर भी नहीं उपजेगा। दोनों हालतों में मेरा प्रयत्न व्यर्थ है। जैसी होनहार होगी, वही होगा। तब काहे को अपने शरीर का पसीना बहाऊँ ?

इसी प्रकार जुलाहा भी होनहारवादी बन कर बैठ रहे और जगत् के समस्त कार्यकर्त्ता यही सोचने लगें तो जगत् के व्यवहार कितनी देर तक जारी रह सकेंगे ? कहिए, इस सिद्धान्त से संसार का काम चल सकता है ?

'नहीं चल सकता !'

इस सिद्धान्त को मान कर जनता कहीं अकर्मण्य न बन जाय, यह सोचकर सकडाल को गोशालक के साथ असहयोग करना पड़ा। महावीर का सिद्धान्त उसे रुचिकर और हितकर प्रतीत हुआ। महावीर पुरुषार्थ वादी थे। वे आत्मा को कर्त्ता मानते थे।

मित्रो ! सकडाल ने अन्याय से असहयोग कर दिखाया। सकडाल जाति का कुंभार था। मिट्टी के वर्त्तनों की ५०० दुकानों का मालिक था। तीन करोड़ स्वर्ण-मोहरों का अधिपति और दस हज़ार गायों का प्रतिपालक था। वह सदा नीतिपूर्ण व्यवहार का ध्यान रखता था।

गोशालक के प्रति असहयोग करके भी सकडाल ने अपनी सभ्यता नहीं गँवाई। गोशालक के जाने पर वह उठा नहीं, इसका कारण यह था कि गोशालक अपने सिद्धान्त का प्रतिनिधित्व करने गया था। उस समय उसका 'मिशन', अपने सिद्धान्त को स्वीकार कराना था। सच्चा असहयोगी किसी व्यक्ति-विशेष की अवज्ञा नहीं

करता। किसी व्यक्ति के प्रति उसके हृदय में घृणा या द्वेष का भाव नहीं होता। असहयोगी अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर अन्याय का प्रतीकार करता है और अन्यायी को सहयोग न देना भी अन्याय के प्रतीकार के अनेक रूपों में से एक रूप है। असहयोग प्रत्येक मनुष्य का न्यायसंगत अधिकार है, यदि उसकी सब शर्तें यथोचित रूप में पालन की जाएँ।

सकडाल के असहयोग के कारण गोशालक को निराश होना पड़ा। वह भगवान् महावीर के सिद्धान्त पर अटल और अचल रहा।

यहाँ बैठे हुए भाइयों में शायद ही कोई होनहारवादी होगा। पर ऐसे बहुत से लोग मिलेंगे जो कहा करते हैं—'भगवान करते हैं सो होता है। उनकी मान्यता यह है कि हमारे किये कुछ नहीं होता। हम नाचीज़ हैं। हम भगवान् के हाथ की कठपुतली हैं। वह जैसा नचाता है, हमें नाचना पड़ता है।'

मैं कहता हूँ, भाइयो! इस भ्रम को दूर कर दो। इससे तुम्हारे विकास में, तुम्हारी क्षमता में और तुम्हारे पुरुषार्थ में बाधा पड़ती है। इस भ्रम के कारण तुम्हारी स्वातन्त्र्य-भावना दब गई है। गीता को देखो। वह कहती है—

> न कर्तृत्वं न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभुः।
> न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते॥

परमात्मा किसी मनुष्य का न कर्तृत्व बनाता है, न कर्म। न वह

कर्त्ता को कर्मफल देने की व्यवस्था ही करता है। यह सब माया करती है।

जैन भाई भी अन्धविश्वास से दूर नहीं हैं। वे भी 'क्या करें महाराज, कर्मों की गति !' कह कर अपना सारा दोष कर्मों के सिर मढ़ देते हैं, मानो कर्म बिना किये हुए ही उन्हें फल देने आ टूटे हैं। स्वयं कुछ करने वाले ही नहीं हैं।

मित्रो ! आज गोशाला दिखाई नहीं देता, पर उसका उपदेश गोशालक का सूक्ष्म रूप धारण करके आपके समाज में घूम रहा है। उसके कारण आप अपनी उद्योगशीलता को भूल रहे हैं। आपने अपनी क्षमता की ओर से दृष्टि फेरली है। आप अपने आपको अकिंचित्कर मान बैठे हैं। यह दीनता का भाव दूर करो। अपनी असीम शक्ति को पहचानो। सच्चे वीरभक्त हो तो अपने को कर्त्ता—कार्यक्षम मान कर कल्याणमार्ग के पथिक बनो।

किसी भी दूसरे की शक्ति पर निर्भर न बनो। समझ लो, तुम्हारी एक मुट्ठी में स्वर्ग है, दूसरी में नरक है। तुम्हारी एक भुजा में अनंत संसार है और दूसरी भुजा में अनन्त मंगलमयी मुक्ति है। तुम्हारी एक दृष्टि में घोर पाप है और दूसरी दृष्टि में पुण्य का अक्षय भंडार भरा है। तुम निसर्ग की समस्त शक्तियों के स्वामी हो, कोई भी शक्ति तुम्हारी स्वामिनी नहीं है। तुम भाग्य के खिलौना नहीं हो, वरन् भाग्य के निर्माता हो। आज का तुम्हारा पुरुषार्थ कल भाग्य बन कर दास की भाँति, तुम्हारा सहायक होगा। इस लिए ऐ मानव ! कायरता छोड़ दे। अपने ऊपर भरोसा रख। तू सब कुछ है, दूसरा

कुछ नहीं है। तेरी क्षमता अगाध है। तेरी शक्ति असीम है। तू समर्थ है। तू विधाता है। तू ब्रह्मा है। तू शंकर है। तू महावीर है। तू बुद्ध है।

भीनासर
२०—११—२७.

१४

आशीर्वाद

[सर मनु भाई मेहता, जो बड़ौदा स्टेट और बीकानेर स्टेट के प्रधानमन्त्री पद पर रहकर अच्छी ख्याति प्राप्त कर चुके हैं और जो आजकल ग्वालियर रियासत के प्रधानमन्त्री पद को सुशोभित कर रहे हैं, आचार्य महाराज के अनुरागियों में से एक हैं। आचार्य महाराज के उपदेशों से प्रभावित होकर आप उनके अनुरागी हुए। आचार्य महाराज जब बीकानेर या आस-पास—भीनासर आदि विराजमान होते थे, तब सर मेहता अक्सर उपदेश-श्रवण का लाभ लेते थे।

लन्दन में हुई पहली गोलमेज कान्फ्रेंस में सम्मिलित होने के लिए सर मनु भाई जब विलायत जाने लगे तब आप आचार्य महाराज के दर्शनार्थ आये थे। उस समय आचार्य महाराज ने जो प्रभावशाली उपदेश दिया था वह सभी के लिए उपयोगी है अतः उसका सार यहाँ दिया जाता है।]

गायकवाड़ सरकार के पूर्वकालीन तथा बीकानेर सरकार के वर्त्तमानकालीन प्रधान सर मनु भाई मेहता ! और उदयपुर सरकार के पूर्वकालीन प्रधान राजेश्री कोठारी बलवन्तसिंहजी ! तथा समस्त सज्जनगण !

आज मेरा और सर मनु भाई मेहता का यह मिलन एक महत्वपूर्ण अवसर पर हो रहा है; अतएव यह मिलन भी महत्वपूर्ण है। सर मेहता विलायत का प्रवास करने वाले हैं, और जैसा कि बतलाया गया है, शायद आज ही रवाना हो जाएँगे। आप लोगों को यह विदित होगा कि मेहताजी का यह प्रवास न तो अपने किसी निजी प्रयोजन के लिए है और न बीकानेर सरकार के किसी कार्य के लिए। आज जो विकट समस्या, न केवल भारतवर्ष के किन्तु सारे संसार के सामने उपस्थित है, उसको हल करने में अपना योग देने वे जा रहे हैं। दूसरे शब्दों में, वे भारतवर्ष के भाग्य का निपटारा करने के लिए इंग्लेण्ड जा रहे हैं।

दीवान साहब अधिकार-सम्पन्न व्यक्ति हैं। इस यात्रा के प्रसंग पर सभी लोग अपनी-अपनी मर्यादा के अनुसार उनकी यात्रा के प्रति शुभ-कामना प्रकट करेंगे। मैं भी साधुत्व की मर्यादा के अनुसार आपके शुभ उद्देश्यों के प्रति सहानुभूति प्रकट करता हूँ। मैं अकिंचन अनगार उन्हें जो भेंट दे सकता हूँ, वह उपदेश रूप ही है। साधुओं पर भी राजा का उपकार है और उस उपकार से उऋण होने का उपदेश ही एकमात्र उनके पास उपाय है।

साधुओं के जीवन और धर्म की रक्षा में पाँच वस्तुएँ सहायक होती हैं। इन पाँच के बिना साधुओं का जीवन एवं धर्म टिकना कठिन है इनमें तीसरा सहायक राजा माना गया है।

पर्जन्य इव भूतानामाधारः पृथिवीपतिः ।
विकलेऽपि हि पर्जन्ये जीव्यते न तु भूपतौ ॥
राजाऽस्य जगतो वृद्धहेतुर्वृद्धाभिसंगतः ।
नयनानन्दजननः, शशाङ्क इव वारिधेः ॥

इन काव्यों का अर्थ गम्भीर है। इनकी विशद व्याख्या करने का समय नहीं है। अतएव संक्षेप में यही समझ लीजिए कि राजाओं द्वारा धर्म की रक्षा हुई है। राजा द्वारा देश को स्वतन्त्रता की रक्षा होती है, प्रजा में शान्ति, सुव्यवस्था और अमन-चैन कायम किया जाता है, तभी धर्म की प्रवृत्ति होती है। जहाँ परतन्त्रता है, जहाँ अराजकता है और जहाँ परतन्त्रताजन्य हाहाकार मचा होता है, वहाँ धर्म को कौन पूछता है?

हिन्दू-शास्त्र में धर्म की रक्षा का रहस्य संक्षेप में कहा है :—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत !
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

हिन्दू शास्त्रों के अनुसार, जब अधर्म बढ़ जाता है, अधर्म के बढ़ जाने से धर्म का ह्रास हो जाता है, तब धर्म की रक्षा के लिए ईश्वर अवतार लेता है। तात्पर्य यह है कि किसी महान् शक्ति के सहयोग बिना धर्म की रक्षा नहीं होती। एक प्रसिद्ध जैनाचार्य ने भी कहा है :—

न धर्मो धार्मिकैर्विना

अर्थात् धर्मात्माओं के बिना धर्म की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती।

सर मेहता की यह चौथी अवस्था संन्यास के योग्य है, मगर एक कर्मयोगी संन्यासी का जो कर्त्तव्य है, वे वही कर रहे हैं। इसी

कारण सर मनु भाई वृद्धावस्था में भी अपने अनुभव को उस कार्य में लगा रहे हैं, जिसके लिए आप विलायत जा रहे हैं। सर मेहता को धर्म की रक्षा करने का यह अपूर्व अवसर मिला है।

सर मनु भाई यद्यपि अनभिज्ञ नहीं हैं, तथापि मैं इस अवसर पर खास तौर पर यह स्मरण करा देना चाहता हूँ कि धर्म को लक्ष्य बनाकर जो निर्णय किया जाता है वही निर्णय जगत् के लिए आशीर्वाद रूप हो सकता है। धर्म की व्याख्या ही यह है कि वह मंगलमय-कल्याणकारी हो। 'धम्मो मंगलमुक्किट्ठं।' अर्थात् जो उत्कृष्ट मंगलकारी हो वही धर्म है।

कोई यह न सोचे कि धर्म किसी व्यक्ति का ही हो सकता है। राउण्ड टेबिल कॉन्फ्रेंस में, जिसके लिए मेहताजी जा रहे हैं, धर्म का प्रश्न ही क्या है? मैं पहले ही कह चुका हूँ कि गुलाम और अत्याचार-पीड़ित प्रजा में वास्तविक धर्म का विकास नहीं होता, इसलिए धार्मिक-विकास के लिए स्वातन्त्र्य अनिवार्य है और इसी समस्या का समाधान करने के लिए लन्दन में कान्फ्रेंस की जा रही है।

श्रेष्ठ पुरुष शान्तिपूर्वक विचार करके सब की शान्ति का उपाय करते हैं।

जिस निर्णय से बहुजन-समाज का कल्याण होता है, वही धर्म का निर्णय कहलाता है। 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष जिस मार्ग पर चलते हैं, जो निर्णय करते हैं, वह निर्णय सभी को मान्य होता है। श्रेष्ठ पुरुष अपने उत्तरदायित्व का भलीभाँति ध्यान रखते हैं और गम्भीर सोच-विचार करके, धर्म और नीति को सामने रखकर ऐसा निर्णय करते हैं जिसे सर्व-साधारण मान्य करते हैं और जिससे सब का कल्याण होता है। इस अपेक्षा से समाज-

व्यवस्था की रचना करने वालों को ईश्वर का दर्जा दिया गया है। जन-कल्याण के लिए नीति-मर्यादा का विधान करने वालों को अगर 'विधाता' या 'मनु' का पद दिया जाय तो इसमें अनौचित्य भी क्या है?

सर मनु भाई यद्यपि स्वयं विवेकशील हैं, बुद्धिमान् हैं, तथापि हम परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि उन्हें ऐसी सद्बुद्धि प्राप्त हो, जिससे वे सत्य के पथ पर डटे रहें। नाजुक से नाजुक प्रसंग उपस्थित होने पर भी वे सत्य से इञ्च-मात्र भी विचलित न हों। सत्य एक ईश्वरीय शक्ति है जो विजयिनी हुए बिना नहीं रह सकती। चाहे सारा संसार उलट-पलट हो जाय मगर सत्य अटल रहेगा। सत्य को कोई बदल नहीं सकता। प्रत्येक मनुष्य की जीवन-लीला एक दिन समाप्त हो जायगी, ऐश्वर्य बिखर जायगा, परन्तु सत्य की सेवा के लिए किया गया उत्सर्ग अमर रहेगा। सत्य पर अटल रहने वालों का वैभव ही स्थायी रहेगा।

साधु के नाते मैं सर मनु भाई को यही उपदेश देना चाहता हूँ कि दूसरे के असत्यमय विचारों के प्रभाव से दूर रह कर, शुद्ध मस्तिष्क से सत्य विचार करना और चाहे विश्व की समस्त शक्ति संगठित होकर विरोध में खड़ी हो तब भी अपने सत्य को न छोड़ना। किसी के असत्य विचारों की परछाई अपने ऊपर न पड़ने देना। शास्त्रानुसार और अपने अन्तरतर के संकेत के अनुसार जो सत्य है, उसी को विजयी बनाना बुद्धिमान् का कर्त्तव्य है और सत्य की विजय में ही सच्चा कल्याण है।

ईश्वरीय कार्यों में बुद्धि को स्वतन्त्र रक्खा जाता है या परतंत्र? यह एक विचारणीय प्रश्न है। परतन्त्र बुद्धि से जो काम किया जाता

है उसके विषय में, थोड़े से शब्दों में कुछ नहीं कहा जा सकता। तथापि इस ओर संकेत-सा कर देना आवश्यक है।

यद्यपि कार्य की सहायता के लिए प्रत्येक व्यक्ति कानून-कायदा बहुजन-समाज आदि का आश्रय लेता है, लेकिन यह सब है परतंत्रता। प्रत्येक व्यक्ति ईश्वर का पुत्र है। प्रत्येक व्यक्ति में बुद्धि है और प्रत्येक की बुद्धि में जागृति है। जिसने सांसारिक लाभ के लोभ से बुद्धि की जागृति पर पर्दा डाल दिया है उसकी बुद्धि की शक्ति अवश्य छिप गई है, मगर जिसने स्वार्थ का पर्दा अपनी बुद्धि पर से हटा दिया है, वह तुच्छ से तुच्छ आत्मा भी महान् बन गया है। इसके लिए अनेक प्रमाण मौजूद हैं। इसी निःस्वार्थ विचार-शक्ति के प्रभाव से बाल्मीकि और प्रभव चोर महर्षि के पद पर पहुँचे थे। इस लिए स्वार्थ के किवाड़ लगा कर उस विचारशक्ति को रोक देना उचित नहीं है। अपनी बुद्धि को, अपनी विचार-शक्ति को सब प्रकार के विकारों से दूर रख कर जो निर्णय किया जाता है वही उत्तम होता है।

जब आदमी को अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से काम करना है तो उसका लक्ष्य क्या होना चाहिए? उसका लक्ष्य ऐसा होना चाहिए जिसे आदर्श मान कर सब लोग अपना काम कर सकें। जहाज में बैठे हुए लोगों की दृष्टि ध्रू पर रहती है, उसी प्रकार ऐसे लोगों को भी अपना लक्ष्यबिन्दु ध्रू-सा बना लेना चाहिए। उस लक्ष्यबिन्दु के सम्बन्ध में भी कुछ शब्द कह देना उचित प्रतीत होता है।

जीवन-व्यवहार के साधारण कार्य, जैसे खाना-पीना, चलना-फिरना आदि ज्ञानी भी करते हैं और अज्ञानी भी करते हैं। कार्यों में

इस प्रकार समानता होने पर भी बड़ा भेद रहता है। अज्ञानी पुरुष अज्ञान-पूर्वक, बिना किसी विशेष उद्देश्य के कार्य करता है जबकि ज्ञानी पुरुष जीवन का छोटे-से-छोटा और बड़े से बड़ा व्यवहार गम्भीर ध्येय से निष्काम भावना से, वासनाहीन होकर यज्ञ के लिए करता है। शास्त्रकारों ने यज्ञ के लिए काम करना पाप नहीं माना है। मगर प्रश्न यह है कि वास्तविक यज्ञ किसे कहना चाहिए? लोगों ने नाना प्रकार के हिंसात्मक कृत्य करने और अग्नि में घी होमने को ही यज्ञ मान लिया है। मगर यज्ञ के सम्बन्ध में गीता में कहा है :—

> द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा, योगयज्ञास्तथाऽपरे।
> स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च, यतयः शंसितव्रताः॥
>
> —अ० ४ श्लो० २८

यज्ञ अनेक प्रकार के होते हैं। अगर किसी को द्रव्य-यज्ञ करना है तो धन पर से अपनी सत्ता उठा ले और कहे 'इदं न मम।' अर्थात् यह मेरा नहीं है। बस, यज्ञ हो गया।

संसार में जो गड़बड़ी मची हुई है उसका मूल कारण संग्रह-बुद्धि है। संग्रह-बुद्धि से संग्रहशीलता उत्पन्न हुई और संग्रहशीलता ने समाज में वैषम्य का विष पैदा कर दिया। इस वैषम्य ने आज समाज की शान्ति का सर्वनाश कर दिया है। इस विषमता का एक सफल उपाय है—यज्ञ करना। अगर लोग अपने द्रव्य का यज्ञ कर डालें—'इदं न मम' कह कर उसका उत्सर्ग कर दें तो सारी गड़बड़ आज ही शान्त हो जायगी।

द्रव्य-यज्ञ के पश्चात् तपोयज्ञ आता है। तप करना उतना कठिन नहीं है, जितना तप का यज्ञ करना कठिन है। बहुत-से लोग हैं जो तप करते हैं परन्तु उनकी उससे अमुक फल प्राप्त करने की आकाँक्षा

बनी रहती है। इस प्रकार आकांक्षा वाला तप एक प्रकार का सौदा बन जाता है। वह तप यज्ञ-रूप नहीं बन पाता। तप करके उससे फल की कामना न करे और 'इदं न मम' कह कर उसका यज्ञ दे, तो तप अधिक फलदायक होता है।

मैं सर मनु भाई मेहता को सम्मति देता हूँ कि वे अपने प्रधानमन्त्री के अधिकारों का भी यज्ञ कर दें।

मेरा तात्पर्य यह है कि अगर सच्चे कल्याण की चाहना है तो सब वस्तुओं पर से अपना ममत्व हटा लो। 'यह मेरा है' इस बुद्धि से ही पाप की उत्पत्ति होती है। इस दुर्बुद्धि के कारण ही लोग ईश्वर का अस्तित्व भूले हुए हैं। 'इदं न मम' कह कर अपने सर्वस्व का यज्ञ कर देने से अहंकार का विलय हो जायगा और आत्मा में अपूर्व आभा का उदय होगा।

वे योगी, जो यज्ञ नहीं करते, उपहास के पात्र बनते हैं। योगियो! अपना किया हुआ स्वाध्याय, प्राप्त किया हुआ विविध भाषाओं का ज्ञान और आचरित तप आदि समस्त अनुष्ठान ईश्वर को समर्पित कर दो। अगर तुमने सभी कुछ ईश्वर को अर्पित कर दिया तो तुम्हारे सिर का बोझा हल्का हो जायगा। कामनाएँ तुम्हें सता न सकेंगी। बुद्धि गम्भीर होगी। अपना कुछ मत रक्खो। किसी वस्तु को अपनी बनाई नहीं कि पाप ने आकर घेरा नहीं।

भाइयो, आप सब लोग भी हृदय में ऐसी भावना भाइए कि सर मनु भाई मेहता को ऐसी शक्ति प्राप्त हो कि वे इंग्लैण्ड जाकर

गोल-मेज-कान्फ्रेंस में अपने सम्पूर्ण साहस का परिचय दें। मेरी हार्दिक भावना है कि सब प्राणी कल्याण के भाजन बनें।

अन्त में मेरा आशीर्वाद है कि आपकी भावना सदा धर्ममयी बनी रहे और धर्मभावना के द्वारा आप यशस्वी और पूर्ण सफल बनें।

वाक्-चयन

अल्पारम्भ-महारम्भ

वैश्य का कर्त्तव्य संग्रह करना हो सकता है परन्तु वह संग्रह स्वार्थमय परिग्रह नहीं बन जाना चाहिए। स्वार्थमय परिग्रह देश को आबाद नहीं बर्बाद करता है। वैश्यों को न केवल समाज और देश की भलाई के लिए ही वरन अपनी आत्मिक उन्नति के लिए भी परिग्रह से बचना चाहिए। परिग्रह मात्र ममत्व भावना बढ़ाने वाला है। और वही आज़ादी (मोक्ष) को रोकता है। अतएव परिग्रह को बढ़ाने के बदले घटाने का प्रयत्न करना चाहिए। जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक पदार्थों का परिमाण नियत करना चाहिए और शेष पदार्थों के प्रति अनासक्त रहना चाहिए। परिमाण नियत कर लेने से आत्मा को बड़ी शान्ति मिलती है। चित्त की व्याकुलता कम होती है और संयम की ओर रुचि दौड़ने लगती है। अतएव बुद्धिमान मनुष्य को इस बात का पूरा विचार होना चाहिए कि मैं अपनी आवश्यकता से अधिक संग्रह न करूँ।

एक विद्वान् आविष्कारक ने बतलाया है कि प्रकृति उतना उत्पन्न करती है जितने से एक भी मनुष्य भूखा न मरे और नंगा न रहे। पर हाय! आज लाखों मनुष्य भूख के मारे मर रहे हैं। उन्हें तन ढँकने को पूरा कपड़ा भी नसीब नहीं होता। मित्रो! विचार करने से मालूम होगा कि इसका कारण लोगों की संग्रह-बुद्धि ही है। एक ओर अन्न के लिए तरसते हुए मनुष्य मर रहे हैं और दूसरी तरफ आवश्यकता न होने पर भी जीवनोपयोगी वस्तुओं का संग्रह किया जाता है! क्या इससे यह बात सिद्ध नहीं होती कि स्वार्थी मनुष्य, मनुष्य के घात का कारण बन रहा है?

कई लोग कहते हैं, साँप मनुष्य का शत्रु है, क्यों कि वह उसे काट कर उसकी जीवनलीला समाप्त कर देता है। सिंह मनुष्य का शत्रु है, वह उसे फाड़कर खा जाता है। रोग फैलकर मनुष्यों का संहार करता है इसलिए वह भी मनुष्य का शत्रु है।

इन बेचारों के जबान नहीं है, अतएव मनुष्य चाहें सो आक्षेप उन पर कर सकते हैं। अगर उन्हें अपनी सफाई पेश करने की योग्यता मिली होती तो वे निडर होकर तेजस्वी भाषा में कह सकते हैं कि—'मनुष्यो! हम जितने क्रूर नहीं उतने क्रूर तुम हो। तुम्हारी क्रूरता के आगे हमारी क्रूरता किसी गिनती में ही नहीं है। सर्प किसी को निष्कारण नहीं काटता। वह प्रायः आत्मरक्षा के उद्देश्य से ही काटता है। और जब काटता है तो मीठा जहर चढ़ता है और जिसे जहर चढ़ता है वह मस्ती के साथ प्राणविसर्जन करता है। उसे प्रकट रूप में कुछ भी कष्ट अनुभव नहीं होता। पर मनुष्य, मनुष्य को किस बुरी तरह मारता है? साँप और मनुष्य की तुलनाकरके देखो, कौन अधिक क्रूर है?

बहुत से भाई दुर्भिक्ष के समय अपने घर में इतना अधिक धान्य संग्रह कर लेते हैं कि उनके खाने पर भी समाप्त न हो। वे लोग अपनी आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का भी विनिमय नहीं करते। उनकी एक मात्र आकांक्षा यही रहती है कि धान्य जितना महँगा हो, उतना ही अच्छा। उनके मन में यही रटन रहती है कि पाँच सेर के बदले चार सेर का और चार सेर के बदले तीन सेर का धान्य हो तो बड़ी बात है। इस तृष्णा ने संसार को नरक बना डाला है। जिस घर में एक आदमी है वह अपने लिए पर्याप्त संग्रह करे तो कोई मना नहीं कर सकता, जिस गृहस्थी में पाँच मनुष्य हों वे अपने योग्य उचित संग्रह करें तो किसी को क्या आपत्ति है? पर एक आदमी दस के योग्य संग्रह कर रक्खे तो परिणाम क्या होगा? न दूसरे शान्ति से रह सकेंगे और न वही। जब चारों तरफ़ दावानल सुलगेगा तो उसके बीच रहने वाला कोई एक शान्ति से कैसे बैठ सकेगा?

माता अपने बालक के लिए खाद्य सामग्री संचित कर रखती है और समय पर उसे खिलाकर प्रसन्नता का अनुभव करती है और बालक का पोषण भी। वैश्य का संग्रह ऐसा ही होना चाहिए। देश की प्रजा उसके लिए बालक के समान है।

एक गाय को ५० पूले घास के एक साथ डाले गये। वह उन्हें खाती नहीं। पैरों से रौंद-रौंद कर बिगड़ती है। वह घास न तो उसके काम आता है, न दूसरों के। गाय इस बात को समझती नहीं इस कारण उसके मालिक को सोचना चाहिए कि मैं गाय को उतने ही पूले डालूँ, जिससे गाय का काम चल जाय और घास नाहक खराब न हो। जो इस प्रकार की वृत्ति अपनी गिरस्ती में रक्खेगा उसे कोई पापी नहीं कहेगा।

मित्रो! आदर्श वैश्य संसार की माता की तरह संग्रह करता है, जौंक की तरह नहीं। जो इस बात का ध्यान रखता है वह दयालु, करुणाशील और धर्मात्मा कहा जायगा, क्योंकि उसकी जीविका धर्म की जीविका है, अधर्म की नहीं

वैश्य को किस प्रकार की आजीविका करनी चाहिए, यह एक विचारणीय प्रश्न है। आजीविका दो प्रकार की होती है—मूल-आजीविका और (२) उत्तर आजीविका। खेती करके अनाज या कपास उपजाना मूल आजीविका है और रुई, सूत या वस्त्र का व्यापार करना उत्तर आजीविका है।

आज कल मूल आजीविका के प्रति उचित आदरभाव दिखाई नहीं देता। लेकिन मूल आजीविका के बिना उत्तर आजीविका टिक नहीं सकती। आप लोग खेती नहीं करते पर खेती से पैदा हुई रुई और कुस्टा आदि का व्यापार करते हैं। अगर किसान खेती करना छोड़ दे तो आपका व्यापार किस आधार पर चलेगा? आपसे मिहनत का काम नहीं होता इसलिए आपने खेती करना महापाप का काम मान लिया है। मगर कभी यह भी विचार किया है कि तृष्णा की अधिकता किसमें है? जरा तुलना करके देखो कि खेती करने वालों ने कितनों को डुबाया है और दूसरे व्यापार करने वालों ने कितनों को? गरीब किसान उतना असत्यमय व्यवहार नहीं करता जितना साहूकार कहलाने वाले सेठ करते हैं। किसी किसान ने स्वार्थ से प्रेरित होकर किसी को डुबाया हो, ऐसा आज तक नहीं सुना गया, किन्तु बड़े व्यापार करने वाले सैकड़ों ने लोभवश दिवाला निकाल दिया और कइयों के पैसे हज़म कर लिये।

एक आदमी बिजली का व्यापार करता है और दूसरा खेती करता है। अब आप बतलाइए आरंभ का पाप किसमें ज्यादा है ?

आप चुप हो रहे हैं। आप जानते होंगे कि बला कहीं हमारे गले पड़ जायगी। मित्रो ! आप घबराइये नहीं। अगर आप नहीं कह सकते तो मैं साफ़ कह देता हूँ कि बिजली का व्यापार करने वाला दुनिया के ऊपर अनावश्यक बोझा डालता है। वह जर्मनी, जापान और अमेरिका आदि विदेशों से माल मँगवा कर लोगों को ललचाया करता है। दुनिया मरे या जिये उसकी बला से। उसे अपना जेब गरम करने से मतलब है। लोगों की आँखों को हानि पहुँचती है तो पहुँचे, आँखें कल फूटती थीं सो आज ही क्यों न फूट जाएँ, उसे इससे क्या प्रयोजन ? उसे अपना घर भरने से काम है।

खेती करने वालों को रातों जागना पड़ता है कड़कड़ाती हुई सर्दी के दिनों में ठंडी-ठंडी हवा की लहरों पर नाचना पड़ता है। ग्रीष्म काल के प्रचण्ड सूर्य की कठोर किरणों से पृथ्वी जब तवे के समान तप जाती है, और वायुमण्डल में आग फैल जाती है, तब किसान उघाड़े बदन खेत में अपने काम में जुटा रहता है। वह मूसलधार वर्षा अपने सिर पर ओढ़ता है। गर्मी, सर्दी, वर्षा आदि का कष्ट उसे अपने कर्त्तव्य से डिगा नहीं सकता। इस प्रकार सैकड़ों घोर कष्ट सहन करके, अपने सुखों को बलिदान करके दुनिया को शान्ति पहुँचाने वाला, और 'अन्नं वै प्राणाः' इस कथन के अनुसार संसार को प्राण देने वाला किसान पापी है और दुनिया में लूटमार मचाने वाले, दुनिया की आँखें फोड़ने वाले धर्मात्मा हैं! यह कहाँ का न्याय है ? यह कैसा इंसाफ है !

खेती करने वाला स्वतंत्रजीवी प्राणी है। उसे किसी के सामने

हाथ फैलाने की जरूरत नहीं है। सारा संसार रूठ जाय तो भी उसका कुछ बिगाड़ नहीं हो सकता, मगर यदि खेती करने वाले रूठ जाएँ तो सब को नानी याद आने लगे। सर्वत्र त्राहि-त्राहि और हाय-हाय का घोर आर्त्तनाद सुनाई पड़ने लगे। इसी कारण कहा जाता है कि खेती दुनिया का प्राण है। खेती के बिना दुनिया में प्रलय मच सकता है।

ऐसी अवस्था में तुम्हें सत्य और न्याय का विचार करना चाहिए। खेती करने वालों से घृणा का व्यवहार न करके, उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना चाहिए। सरल और सीधे किसानों का आदर करना चाहिए और उनसे जगत्कल्याण के लिए कष्ट सहने का सबक सीखना चाहिए।

मित्रो ! अब एक और प्रश्न मैं तुम्हारे सामने रखता हूँ। बताओ खेती करने में ज्यादा पाप है या जुआ खेलने में ? बोलिए, चुप मत रहिए।

श्रावक—ऊपर की दृष्टि से तो खेती का काम ज्यादा पाप का मालूम पड़ता है।

ठीक है। इस प्रकार कहने से मुझे मालूम हो जाता है कि आप किस वस्तु को किस रूप में समझ रहे हैं।

मित्रो ! ऊपर की दृष्टि से जुआ अल्प पाप गिना जाता है। इसमें किसी की हिंसा नहीं होती। केवल इधर की थैली उधर उठाकर रखनी पड़ती है। पर खेती में ? अरे बाप रे ! एक हल चलाने में न जाने कितने जीवों की हिंसा होती है ? यह कहना भी अत्युक्ति नहीं है कि खेती में छहों काय की हिंसा होती है।

मित्रो ! उथले विचार से ऐसा मालूम होता है सही, पर अगर गहराई में जाकर विचार करेंगे तो आपको कुछ और ही प्रतीत होगा। आप इस बात पर ध्यान दीजिए कि जगत् का कल्याण किसमें है ? पाप का मूल क्या है ? क्या यह सन्देह करने की बात है कि खेती के बिना जगत् सुखी नहीं रह सकता ? खेती से प्राणियों की रक्षा होती है। थोड़ी देर के लिए कल्पना कीजिए कि संसार के सब किसान कृषि-कार्य का त्याग कर जुआरी बन जाएँ तो कैसी बीते ?

श्रावक—'दुनिया का काम नहीं चल सकता ?'

अब आपकी समझ में आ रहा है। तो जिस कार्य से प्राणियों की रक्षा होती है वह कार्य पुण्य का है या पाप का ?

श्रावक—'पुण्य का।'

अब आप जुए की तरफ देखिए। जुआ जगत्-कल्याण में तनिक भी सहायक नहीं है। बल्कि जुआ खेलने वालों में झूठ, कपट, छलछिद्र, तृष्णा आदि अनेक दुर्गुण पैदा हो जाते हैं। अधिक क्या कहा जाय, संसार में जितने दुर्गुण हैं वे सब जुए में विद्यमान हैं। किसी ने कहा है—

> विषादः कलहो राटिः, कोपो मानः श्रमो भ्रमः ।
> पैशुन्यं मत्सरः शोकः, सर्वे द्यूतस्य बान्धवाः ॥
> द्यूतं हिंसाकरं लोके, द्यूतं कूटप्रभावितम् ।
> द्यूतेन चौर्यभावोऽपि, द्यूताद् दुःखं नृणां खलु ॥

अर्थात्—विषाद, कलह, रार-तकरार, क्रोध, मान, श्रम, भ्रम, पैशुन्य, ईर्षा, शोक यह सब जुए के भाई-बंद हैं।

जुआ हिंसाकारी है, जुए से असत्य भाषण होता है, जुआरी चोरी करने के लिए भी उद्यत हो जाता है। जुए से निश्चय ही मनुष्य दुःख का भागी होता है।

वास्तव में जुआरी प्राणियों पर दया नहीं करता। धर्मराज युधिष्ठिर ने जुए के जाल में फँस कर के ही द्रौपदी को दाव पर रख दिया था। जुआ धर्मराज की बुद्धि पर भी पर्दा डाल सकता है तो दूसरे साधारण मनुष्यों की बात ही क्या है ?

जुआ और खेती के पाप की तुलना करते समय आप यह बात भी न भूल जाइए कि शास्त्रों में जुए को सात कुव्यसनों में गिना गया है, पर खेती करना कुव्यसन के अन्तर्गत नहीं है। श्रावक को सात कुव्यसनों का त्याग करना आवश्यक है। अगर जुए की अपेक्षा खेती में अधिक पाप होता तो सात कुव्यसनों की अपेक्षा खेती का पहले त्याग करना आवश्यक होता। परन्तु शास्त्र बतलाते हैं कि आनन्द जैसे धुरंधर श्रावक ने श्रावकधर्म धारण करने के पश्चात् भी खेती करने का त्याग नहीं किया था।

इस विवेचन से आप अल्प पाप और महापाप को समझ सकेंगे, फिर भी अधिक स्पष्टीकरण के लिए मैं कुछ उदाहरण आपके सामने रखता हूँ। उनसे कई बातों का निचोड़ निकल सकेगा।

एक पुरुष कहता है—'मैं ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता। अतएव विषय-लालसा की तृप्ति के लिए दो-दो मास में वेश्या-गमन करना अच्छा समझता हूँ। सामाजिक मर्यादा के अनुसार विवाह करना अधर्म है। विवाह करने में कई आरंभ-समारंभ करने पड़ते हैं। विवाह के पश्चात् भी कपड़े के लिए और कभी गहनों के लिए आरंभ करना पड़ता है। विवाह के फल स्वरूप पुत्र या पुत्री का जन्म होने

पर उनके विवाह आदि के निमित्त भी तरह-तरह का सावद्य व्यवहार करना पड़ता है और इस प्रकार पाप की परम्परा चलती जाती है। अतएव विवाह में सिवाय आरंभ के और कोई बात ही नहीं है।'

वह कहता है—'वेश्या-गमन में ऐसा कोई झंझट ही नहीं है। थोड़े से पैसे दिये और छुट्टी पाई। वह मरे चाहे जिये, हमें कोई सरोकार नहीं। न हमें वेश्या के कपड़े की चिन्ता, न आभूषणों की फिक्र। न उनके लिए किसी प्रकार का आरंभ, न किसी तरह का समारंभ। विवाह आरंभ-समारंभ का घर है। अतएव विवाह से वेश्या-गमन में कम पाप है।

मित्रो! ऊपर की दृष्टि से वेश्या-गमन में कम पाप नज़र आता है, पर जरा गहराई में जाकर देखो तो पता चलेगा कि इस विचार में अनर्थों की कितनी दीर्घ परम्परा छिपी हुई है। यह विचार कितने भयंकर पापों से परिपूर्ण है। इस कुविचार की बुराइयाँ जिह्वा द्वारा नहीं बतलाई जा सकतीं।

गृहस्थ सदाचारी बन सकता है, वेश्यागामी नहीं। वेश्यागामी महापापी है यहाँ तक कि वेश्या-गमन की भावना मन में उदित होना भी घोर पाप का कारण है।

दूसरा उदाहरण लीजिए—एक आदमी खेती करके थोड़े से पैसे कमाता है और संतोष से अपना जीवन यापन करता है। दूसरा आदमी किसी धनवान् के घर चोरी करके धनोपार्जन करता है। चोरी करने वाला कहता है—मैं धनाभाव के घर से उतना ही धन चुरा कर लाता हूँ, जितने से उसे धनाभाव के कारण कष्ट न उठाना पड़े। जैसे, १०-२० लाख के धनी के यहाँ से एक-दो हजार रुपये ही चुराता हूँ।

इससे मेरा बिना किसी विशेष आरंभ-समारंभ के काम चल जाता है और उस धनी का भी उपकार हो जाता है। चुराये हुए धन पर से धनी का ममत्व कम हो जाता है और ममत्व का घटना धर्म है। इस तरह धनी ममत्व की अधिकता से बच जाता है और मैं खेती, व्यापार आदि के आरंभ-समारंभ से बच जाता हूँ।

अब यह आपका काम है कि आप खेती करने वाले और चोरी करने वाले दो पुरुषों के काम की परीक्षा करके यह निर्णय करें कि अल्प पाप किसमें है और महापाप किसमें है ?

मुझसे एक भाई कहते थे—'आप गायें पालने का उपदेश देते हैं।' मैंने उन्हें बतलाया—आप मेरे कथन को ठीक तरह नहीं समझे हैं और ऊपर की बात लेकर उड़ पड़े हैं।

मेरा कहना यह है कि बाजार का दूध लेने से घर पर गाय पालने में कम पाप है। इस कथन की सचाई सिद्ध करने के लिए अनेक प्रमाण मौजूद हैं। अभी कुछ दिनों पहले बीकानेर के एक विद्वान सेठजी मेरे पास आये थे। उन्होंने मुझे बतलाया कि—जितने दूध बेचने वाले घोसी आते हैं, उनके घर जाकर देखा जाय तो एक भी बछड़ा न मिलेगा। क्योंकि वे कसाईखाने में बछड़े भेज देते हैं। हाय ! कितनी करुणापूर्ण दशा है ! फिर भी आप मोल का दूध लेने में पाप नहीं समझते ?

बंबई आदि विशाल नगरों में ऐसा होना सुना जाता था मगर मालूम हुआ सर्वत्र ऐसा अत्याचार होता है। सुनते हैं—घोसी लोग गाय के गुप्त स्थान में नली के द्वारा हवा भरते हैं, जिससे गाय फूल जाती है और घोर वेदना अनुभव करती हुई तड़फने लगती है। आप

जानते हैं ? इसलिए कि दूध सूँत-सूँत कर अधिक निकाला जाय ! कैसा घोर अत्याचार है ! कितनी नृशंसता है ! कैसी क्रूरता है !

और यह कितने आश्चर्य एवं खेद की बात है कि आप इस प्रकार निकाले हुए दूध को खरीदते हैं और उसके खोये की मिठाइयाँ उड़ाने में आनन्द मानते हैं।

भाइयो और बहिनो ! आपको महापाप का मूल और फल रूप ऐसा दूध पीना उचित नहीं है। इसकी अपेक्षा घर पर गाय का पालन-पोषण करना कैसे अनुचित कहा जा सकता है ? क्या इस दारुण हिंसा में अल्प पाप की कल्पना की जा सकती है ?

मित्रो ! आप इस गहरी दृष्टि से अल्प पाप और महापाप का विचार कीजिए। यह याद रखिए जहाँ सादगी को स्थान मिलता है वहीं अल्प पाप होता है। सादगी में ही शील का वास है। विलासिता बढ़ाने वाली सामग्री महापाप का कारण है। वह स्वयं विलासी को भ्रष्ट करती है और साथ ही दूसरों को भी।

❀ ❀ ❀ ❀

मित्रो ! बहुत से लोग खेती करने वालों को और मिट्टी के बर्त्तन गढ़ने वालों को पापी समझते होंगे, पर मैं तो अनेक बड़े-बड़े धनवानों को उनसे कहीं अधिक पापी मानता हूँ। वे बेचारे खरी मिहनत करके अपना निर्वाह करते हैं, उन्हें आप पापी कहते हैं किन्तु जो लोग गद्दियों पर पड़े-पड़े ब्याज खाते हैं या किसी ऐसे ही व्यापार द्वारा गरीबों को चूसते हैं, अपने हाथ से कुछ भी काम नहीं करते, आलस्य में पड़े-पड़े 'उसे मारूँ, इसे गिराऊँ, उसका धन स्वाहा कर दूँ,

फँसाऊँ, अमुक का घर-द्वार नीलाम पर चढ़ा दूँ' ऐसा सोचा करते हैं, उन्हें आप पुण्यात्मा समझते हैं। यह कैसा उलटा ज्ञान है ? जो लोग मिट्टी भिगोने और जूते गाँठने में ही पाप मानते हैं और ऐसे भयंकर कामों को पाप नहीं मानते, वे अभी अज्ञान में पड़े हैं।

आज परंपरा के कारण पुष्प सूँघने वाले को पापी और तमाखू सूँघाने वाले को अच्छा समझा जाता है। लोग इसका कारण यह समझाते हैं कि तमाखू अचित्त वस्तु है और पुष्प सचित्त। किन्तु अगर आप इन दोनों को विचार की तुला पर तोलेंगे तो बड़ा अन्तर नज़र आएगा। उस समय आपको मालूम होगा कि तमाखू में ज्यादा पाप है या पुष्पों में। जैनशास्त्र ऊपर-ऊपर से विचार करने का उपदेश नहीं देता, वह उत्पत्तिस्थान तक की खोज करने का उपदेश देता है। अगर आप इस बात का विचार करेंगे कि तमाखू किस प्रकार बोई जाती है और बाद में कितने आरंभ-समारंभ के साथ तैयार की जाती है और साथ ही मादक होने के कारण उससे कितनी भावहिंसा होती है तो आपको तत्काल मालूम हो जायगा कि पुष्प सूंघने में अपेक्षाकृत अल्प पाप और तमाखू सूंघने में अपेक्षाकृत महापाप है। जिन भाइयों को इतना गहरा विचार करना न आवे, वे यदि ऊपरी दृष्टि से भी विचार करेंगे तो भी उन्हें असलियत का भान हो जायगा।

विचार कीजिए, मनुष्य तमाखू सूंघने के बाद क्या करता है ? वह नासिका का मैल इधर-उधर डाल देता है और कई बार दीवालों पर भी हाथ से पौंछ लेता है। यहाँ तक देखा जाता है कि कई लोग अपने कपड़ों से भी पौंछ लेते हैं। उनके कपड़े बुरी तरह बासने लगते हैं। लोग उन्हें घृणा की दृष्टि से देखते हैं। और जब कपड़े

बहुत मैले-कुचैले हो जाते हैं तब धोये जाते हैं। कहिए, तमाखू सूँघने से कितना आरंभ-समारंभ बढ़ा ? पर क्या आपने पुष्प सूँघने में यह दोष देखे हैं ? पुष्प की सुगंध से हवा शुद्ध होती है, मस्तिष्क में शान्ति का संचार होता है, उसमें और भी कई प्रकार के गुण हैं, ऐसा वैद्यक-शास्त्र और आज का विज्ञान बतलाता है। पर तमाखू में कौन-से गुण हैं, जिनके लिए इतना आरंभ-समारंभ किया जाता है ? अलबत्ता यह तो सुना गया है कि तमाखू सूँघने वालों को कई प्रकार की बीमारियाँ पैदा होती हैं।

आज आप लोग पुष्पों की सुगंध से, पाप समझ कर डरते हैं पर मस्तिष्क को भ्रष्ट करने वाली ब्रांडी जैसी अपवित्र और पापमय चीजों से बने सेंट, लवेंडर वगैरह सूँघने में जरा भी हिचकिचाहट नहीं करते। मैं यह नहीं कहता कि पुष्प सूँघने में पाप नहीं है, अवश्य है, पर इनके बराबर नहीं। पर ऐसी तुलना के लिए सीधी चीजों पर मौज उड़ाने वालों को समय कहाँ ? अप्रत्यक्ष में अतरों के लिए हजारों-लाखों पुष्प भले ही तोड़े जाएँ, इसकी कुछ भी परवाह नहीं, पर यों एक फूल सूँघने में जल्दी पाप नजर आजाती है मित्रो ! विवेक सीखो। धर्म विवेक में है—अंधाधुंधी में नहीं।

भीनासर
२१—१०—२७

मैं कई बार कह चुका हूँ कि सीधी वस्तु के भरोसे अल्प पाप की जगह कई भाई अपने सिर पर महापाप ले लेते हैं। सीधा खाना या उसका शौकीन बनना आलस्य की खास निशानी है। आलस्य से धर्म नहीं होता। धर्म तो कर्त्तव्यपालन से होता है।

❀ ❀ ❀ ❀

अच्छा वैद्य रोगी का मनचाहा पथ्य नहीं बतलाता, वरन् रोगी के स्वास्थ्य का ध्यान रखकर हितकर पथ्य बतलाता है। सच्चा उपदेश जनता को चाटुकारी नहीं करता, बल्कि सच्ची, हितकर और अभ्युदय कारक बात ही कहता है।

विचार-बिन्दु

जो भाई यह समझते हैं कि विषयभोग से ही संसार चल रहा है, कहना चाहिए वे बड़े भ्रम में हैं। संसार तप के आधार पर चल रहा है। जिस दिन मानव-समाज तप की वास्तविक महत्ता समझ लेगा उसी दिन उसके बद्धमूल कुसंस्कार ढ़ीले पड़ जाएँगे।

❀ ❀ ❀ ❀

श्रमणोपासक के पास खजाना आजाय तो क्या, और नष्ट हो जाय तो क्या ? वह किसी भी हालत में दुखी नहीं होता। हमेशा पलंग पर सोता है। एक दिन जमीन पर सोना पड़ा तो दुःख किस बात का ? वह तो यही सोचता है कि मेरे गुरु हमेशा जमीन पर

सोते हैं। यदि मैं आज ज़मीन पर सो गया तो उनकी विशेष भक्ति समझनी चाहिए। जो रात-दिन दुःखों के दरिया में गोता खाता रहता है, जो कठिनाइयों को देखकर डर जाता है, वह सच्चा श्रमणोपासक नहीं कहला सकता। श्रमणोपासक को किसी भी हालत में दुःख नहीं सता सकता। उसके चेहरे पर सदा हँसी नाचती रहती है। जब वह कष्टों या कठिनाइयों से घिर जाता है तो वीरतापूर्वक उनका सामना करता है। निराशा का तो वह नाम नहीं जानता।

❀　　❀　　❀　　❀

अन्तःकरण शुद्ध किये बिना कभी शान्ति नहीं मिल सकती। जिस बरतन में बदबूदार घी भरा हो उसे चाहे जितना माँजा जाय, उसकी बदबू नहीं मिटने की। इसी प्रकार स्नान करने से अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता। अन्तःशुद्धि के लिए चोरी से बचने की जरूरत है। अन्तःशुद्धि के लिए व्यभिचार से सदा दूर रहना चाहिए। अन्तःशुद्धि के लिए आलस्य से सदा दूर रहना जरूरी है। जो मनुष्य इन बातों का ध्यान रक्खेगा उसे शान्ति मिले बिना न रहेगी।

अन्तःकरण की शान्ति चाहने वालों को दूसरे पर कभी द्वेष न लाना चाहिए। द्वेष की अग्नि बड़ी भयंकर है। द्वेष की आग से संतप्त प्राणी को अच्छे शृङ्गार भी लपलपाती हुई भयंकर अग्नि के समान लगते हैं। जब आपका कोई शत्रु बढ़िया वस्त्राभूषण पहन कर आपके सामने से निकलता है तो आपके दिल में कैसी आग धधकने लगती है? द्वेष के कारण ही घर में घमासान युद्ध छिड़ा रहता है। जिस घर में द्वेष है वह नरक तुल्य है।

❀　　❀　　❀　　❀

आप दूसरों को अभयदान देना चाहते हैं। पर यह तो समझ लो कि अभय कौन दे सकता है? जिसके पास जो है वह वही दान दे सकेगा। अगर अभयदान देना चाहते हैं तो पहले स्वयं अभय—निडर बनो। जिसे भूत, प्रेत, डाकिन, जन्म, जरा, मरण आदि भयभीत नहीं कर सकते, संसार की कोई शक्ति जिसे अपने पथ से विचलित नहीं कर सकती, वह अभय है।

❀ ❀ ❀ ❀

जो धर्म की रक्षा करना चाहता है उसे वीर बनना पड़ेगा। वीरता बिना धर्म की रक्षा नहीं हो सकती। भक्त का मुख्य उद्देश्य वीर बनना ही होना चाहिए।

जो वीर भक्त बन जाता है, उसके मार्ग में कितनी ही आपत्तियाँ आवें, कोई भी उसके मार्ग से डिगाने का प्रयत्न करे, वह विचलित नहीं होता। क्या कामदेव विपत्तिओं से डरा था?

❀ ❀ ❀ ❀

पारस्परिक अविश्वास होना असत्य का आधिपत्य होना, एक का दूसरे को राक्षस रूप में दिखाई देना, यह सब आसुरी सम्पदा के लक्षण हैं। इसके फल बड़े कटुक होते हैं। ज्ञानी जन इस बात को अच्छी तरह जानते हैं, इसलिए वे अपना तमाम बुद्धि-बल लगा कर इससे होने वाले क्लेश को जीतने का प्रयत्न करते हैं।

यह कितनी लज्जा की बात है कि अपने आपको बुद्धिमान् समझने वाले लोग, जनता में जितना अविश्वास फैलाते और असत्य का प्रचार करते हैं, उतना मूर्ख कहलाने वाले नहीं।

❀ ❀ ❀ ❀

जिसके अन्तःकरण में चंचलता भरी है, जिसका हृदय क्रोध की भट्टी बना हुआ है, वह अगर दूसरों को उपदेश देने के लिए उद्यत होता है तो उसका दुस्साहस ही समझना चाहिए।

आज वक्ताओं की बाढ़-सी आ रही है, मगर अपनी ही वक्तृता के अनुसार चलने वाले कितने हैं ? जो सत्य पर नहीं चलता वह उपदेश देकर दूसरों को सत्यवादी कैसे बन सकता है ना ?

व्याख्यानमञ्च पर खड़ा उपदेशक जब कहता है—'मैं आकाश बाँध दूंगा, मैं पाताल बाँध दूंगा,' तब देखना उसने अपनी धोती अच्छी तरह बाँधी है या नहीं ? जो अपनी धोती भी अच्छी तरह नहीं बाँध सकता वह आकाश-पाताल क्या बाँधेगा ?

आत्मा स्वतंत्र है; इस तथ्य को समझते हुए भी जो कहता है—'मुझे अमुक का सहारा चाहिए, अमुक मेरी आशा पूरी कर देगा, अमुक के द्वारा मेरा भला-बुरा होगा, इत्यादि, उसने धर्म का मर्म नहीं जाना।

वास्तव में आत्मा अपने ही कर्त्तव्यों से स्वतंत्र बनती है और उसी के कर्त्तव्य उसे स्वतंत्र से परतंत्र बना डालते हैं।

❀ ❀ ❀ ❀

भिखारी आपके पास माँगने आता है। आप उसे पैसा-दो पैसा दे देते हैं और वह सन्तोष कर लेता है। पर आपको कितने पैसों की आवश्यकता है ? हजारों-लाखों से भी आपका मन नहीं मानता। अब आप ही सोचिये—बड़ा भिखारी कौन है—आप या वह ?

भिखारी आप से रोटी का टुकड़ा माँगता है, मिलने पर वह उसी में तृप्त हो जाता है। पर आपको कलाकंद लड्डू, बर्फी, आचार, मुरब्बा आदि से भी संतोष नहीं। बताइए—बड़ा भिखारी कौन है ?

❀ ❀ ❀ ❀

भक्त कहता है–'किसके आगे अपना दुखड़ा रोऊँ ? जिसे अपना दुःख सुनाता हूँ। वह स्वयं दुखी है। जो अपना दुःख नहीं मिटा सकता है वह मेरा दुःख क्या दूर करेगा ? जो समस्त दुःखों से परे है वही मेरा दुःख दूर करेगा।

दुःख का गुलाम दुःख से कैसे छुड़ा सकता है ? स्वयं रोने वाला दूसरे को क्या हँसाएगा ?

अपनी रक्षा के लिए जो दूसरों का मुहताज है वह मेरी रक्षा कैसे कर सकता है ?

❀ ❀ ❀ ❀

मनुष्य अपनी शक्ति से अपरिचित रह कर निर्बल बन रहा है। जब वह अपनी शक्ति को पहचान लेगा, तब उसे अपनी गहरी भूल का पता चलेगा। उस समय वह सहज ही समझ लेगा—'तमाम दुनिया और देवताओं का बल एक ओर है और मेरा बल दूसरी ओर है। फिर भी मैं अधिक सबल हूँ।

प्रभु को प्रसन्न करना है तो निर्बल बनो। निर्बल का मतलब पुरुषार्थहीन बनना नहीं है। निर्बल का अर्थ है—भौतिक बल के अभिमान का त्याग। तुम्हारे पास जो धन-बल है, उसका अभिमान मत करो। धन ने अनेक धनवानों के नाक, कान, हाथ, पैर काट डाले

हैं और कइयों के प्राण हरण कर लिए हैं। जिस पर तुम भरोसा करो, वही तुम्हें दगा दे जाय, भला वह भी कोई बल है ? ऐसा धन बल, बल क्या हुआ वैरी हुआ। इसे तुच्छ समझ कर प्रभु की शरण में जाओ।

जनबल की भी यही दशा है। यह कई बार कीड़ा बन कर तुम्हारा घोर अहित करता है। संसार में सर्वोत्कृष्ट बल ईश्वर का ही बल है। उसी को प्राप्त करने का प्रयत्न करो।

संसार के पदार्थ दगाखोर हैं या नहीं, यह निर्णय करना हो तो अनाथी मुनि का अनुकरण करो। उन्होंने हाँडी की तरह बजा-बजा कर हरेक वस्तु की परीक्षा की थी। परीक्षा करने पर तुम्हें भी थोथा-पन नजर आने लगेगा।

❀ ❀ ❀ ❀

जब तक गरीब आपको प्यारे नहीं लगेंगे तब तक आप ईश्वर को प्यारे न लगेंगे।

अगर आपको गरीब प्यारे नहीं लगते, तो क्या दूसरों को मारने के लिए ईश्वर से बल की याचना करना चाहते हो ?

❀ ❀ ❀ ❀

जो मनुष्य जिस काम को नहीं जानता उसे उसके फल को भोगने का क्या अधिकार है ? जो कपड़ा बुनना नहीं जानता उसे कपड़ा पहनने का अधिकार नहीं है। जो अन्न पैदा नहीं कर सकता उसे खाने का क्या अधिकार है ?

प्राचीन काल में बहत्तर कलाएँ प्रत्येक को सीखनी पड़ती थीं। उनमें कपड़ा बुनना और खेती करना क्या सम्मिलित नहीं था ?

❀ ❀ ❀ ❀

जो देश रोटी और कपड़े के लिए दूसरे देश का मुंह ताकता है वही गुलाम है। गुलामी रोटी और कपड़े की पराधीनता से आती है। जो देश दो बातों में अर्थात् रोटी और कपड़े में स्वतंत्र होता है उसे कोई गुलाम नहीं बना सकता।

❀ ❀ ❀ ❀

रोटी को छोटी और गहनों को बड़ी चीज मानना विवेकशून्यता का लक्षण है। गहनों के विना जीवन कट जाता है पर रोटी के विना कितने दिन कट सकेंगे ? आपने गहनों को बड़ी चीज मान कर आडम्बर बढ़ा लिया। परिणाम यह हुआ कि भारत में छह करोड़ आदमी भूखों मरते हैं।

❀ ❀ ❀ ❀

आपके घर में विधवा बहिनें शीलदेवियाँ हैं। इनका आदर करो। इन्हें पूज्य मानो। इन्हें खोटे दुखदाई शब्द मत कहो। यह शील-देवियां पवित्र हैं, पावन हैं। यह मंगलरूप हैं। इनके शकुन अच्छे है। शील की मूर्ति क्या कभी अमङ्गलमयी हो सकती है ?

समाज की मूर्खता ने कुशीलवती को मङ्गलमयी और शीलवती को अमङ्गला मान लिया है। यह कैसी भ्रष्ट बुद्धि है !

याद रखो, अगर समय रहते न चेते और विधवाओं की मान-रक्षा न की, उनका निरन्तर अपमान करते रहे, उन्हें ठुकराते रहे, तो शीघ्र ही अधर्म फूट पड़ेगा। आपका आदर्श धूल में मिल जायगा और आपको संसार के सामने नतमस्तक होना पड़ेगा।

❀ ❀ ❀ ❀

विधवा या सुहागिन बहिनों के हृदय में कुविचार उत्पन्न होने का प्रधान कारण उनका निकम्मा रहना है। जो बहिनें काम काज में फँसी रहती हैं, उन्हें कुविचारों का शिकार होने के लिए अवकाश नहीं मिलता।

विधवा बहिनों के लिए चर्खा अच्छा साधन माना गया है, पर आप लोग तो उसके फिरने में वायुकाय की हिंसा का महा पाप मानते हैं। आपको यह विचार कहाँ है कि अगर विधवाएँ निकम्मी रह कर इधर-उधर भटकती फिरेंगी और पापाचार का पोषण करेंगी तो कितना पाप होगा।

❀ ❀ ❀ ❀

बहिनो! शील आपका महान् धर्म है। जिन्होंने शील का पालन किया है वे प्रातःस्मरणीय बन गईं। आप धर्म का पालन करेंगी तो साक्षात् मंगलमूर्त्ति बन जाएँगी।

बहिनो! स्मरण रक्खो—'तुम सती हो, सदाचारिणी हो, पवित्रता की प्रतिमा हो। तुम्हारे विचार उदार और उन्नत होने चाहिए। तुम्हारी दृष्टि पतन की ओर कभी न जानी चाहिए। बहिनो!

हिम्मत करो। धैर्य धारण करो। सच्ची धर्मधारिणी बहन में कायरता नहीं हो सकती। धर्म जिसका अमोघ कवच है, उसमें कायरता कैसी?

❀ ❀ ❀ ❀

मातृभूमि और माता का बखान नहीं हो सकता। इनकी महिमा अगाध है। यह स्वर्ग से अधिक प्यारी हैं। इसलिए महापुरुष कहते हैं—'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।'

याद रखना चाहिए—आपके ऊपर मातृभूमि का ऋण सब से ज्यादा है। आपके माता-पिता इसी भूमि में पले हैं और इसी के द्वारा उनका और अपना जीवन टिक रहा है। अतएव आपका सर्वप्रथम कर्त्तव्य उसका ऋण चुकाना होना चाहिए। मातृभूमि और माता के ऋण से उऋण हो जाने के बाद आगे पैर बढ़ाना उचित है।

❀ ❀ ❀ ❀

यह शरीर पंच भूत रूपी पंचों का मकान है। शुभ कर्म रूपी किराया देने पर हमें यह मिला है। अतएव इसके मालिक बनने की दुश्चेष्टा न करते हुए शीघ्र ही कुछ शुभ कार्य कर लेने चाहिए, ताकि पंचों को धक्का देकर बाहर निकालने का अवसर न मिले। अगर हम किराये की चीज पर अपना स्वामित्व स्थापित करने का दुस्साहस करेंगे तो नरक का कारागार तैयार है। मित्रो! सावधान बनो।

सम्पूर्ण श्रद्धा से कार्य में सफलता मिल जाती है अविश्वासी को सफलता इसलिए नहीं मिलती कि उसका चित्त डाँवाडोल रहता है। उसके चित्त की अस्थिरता ही उसकी सफलता में बाधक होती है।

❀ ❀ ❀ ❀

मनुष्य मात्र ईश्वर की मूर्त्ति है। किसी भी मनुष्य को नीच मत समझो। उससे घृणा मत करो। मनुष्य से घृणा करना परमात्मा से घृणा करना है। अज्ञानी जिसे नीच कहते हैं, उनकी सेवा करो, बल्कि उनकी खूब सेवा करो। संतुष्ट रहो। दुःख पड़ने पर घबड़ाओ नहीं, सुख में फूलो मत। समभाव में ही सच्चा सुख है।

❀ ❀ ❀ ❀

घर-द्वार, हाट, हवेली, रुपया, पैसा—कोई भी जड़ वस्तु स्थिर नहीं है। बड़े-बड़े चक्रवर्त्ती भी इन्हें अपने साथ नहीं ले जा सके। क्या तुम साथ ले जाने की आशा रखते हो? नहीं, तो सद्व्यय करना सीखो। दान करने से परोपकार के साथ आत्मोपकार भी होता है। परोपकारी को सारी दुनिया पूजती है।

❀ ❀ ❀ ❀

ओ मनुष्य! तू तकदीर लेकर आया है। जरा तकदीर पर भरोसा रख। प्रकृति का कानून मत तोड़। क्या माँस न खाने वाले भूखों मरते हैं? हम देखते हैं कि जितने मांसाहारी भूखों मरते हैं, उतने शाकाहारी नहीं।

❀ ❀ ❀ ❀

मतान्ध होना मूर्खता का लक्षण है। विवेकपूर्वक विचार करने में ही मानवीय मस्तिष्क की शोभा है।

दुनिया के तमाम काम करते हो, तुम्हें ईश्वर के नाम लेने का भी काम करना चाहिए। ईश्वर का नाम लेने से तमाम कुवासनाएँ

मिट जाती हैं। राजा जिसका हितचिन्तक बन जाता है उसे चोरों और डाकुओं का डर नहीं रहता; पर जो पुरुष राजा के राजा (परमात्मा) के साथ नाता जोड़ लेगा उसे काम, क्रोध, आदि लुटेरे नहीं लूट सकते। वह सदा सर्वत्र निर्भय रहेगा।

सामायिक

राग-द्वेष का परित्याग कर, प्राणीमात्र को विनय के साथ अपने आत्मा के समान देखना 'सम' है। उस समभाव का आय अर्थात् लाभ होना 'समाय' कहलाता है और जिस क्रिया के द्वारा 'समाय' की प्रवृत्ति की जाय उसे 'सामायिक' कहते हैं।

कोई भाई प्रश्न कर सकता है कि हम गृहस्थ लोग राग-द्वेष से छूट कर समत्व कैसे प्राप्त कर सकते हैं? समभाव का उपदेश तो क्षत्रियत्व का नाशक और कायरता का उत्पादक जान पड़ता है। यह विधवा बहिनों और उन श्रावकों के लिए हो सकता है जिन्होंने संसार-बन्धन को ढीला कर दिया है। संग्राम या व्यापार करने वालों के लिए यह उपदेश किस काम का?

मित्रो! यह तर्क बिलकुल पोचा मालूम होता है। अगर सामायिक का मर्म समझ लिया जाय तो, उलटी समझ के कारण

सामायिक के विषय में उत्पन्न होने वाले तर्क उठ ही नहीं सकते। क्या कोई शूरवीर भूखा रहकर संग्राम कर सकता है ? भोजनसामग्री समाप्त हो जाने पर सिपाही एक दिन भी संग्राम में नहीं टिक सकता। आप जब व्यापार के लिए बाहर निकलते हैं, तब साथ में कुछ सामग्री क्यों ले जाते हैं ? इसलिए कि वह सामग्री आपकी शक्ति है। इसे आप नहीं भूलते; पर मित्रो ! आप सच्ची शक्ति देने वाली वस्तु के प्रति शंकाशील अथवा प्रमादशील बन गये हैं।

सामायिक सच्ची शक्ति देने वाली वस्तु है। जिस समय सच्ची सामायिक की जाती है उस समय आत्मा क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष आदि विकारों से रहित हो जाता है। निरन्तर गति से राग-द्वेष आदि चलते रहने से आत्मा की शक्ति क्षीण होती है और मनुष्य निकम्मा बन जाता है। जो मनुष्य रात-दिन परिश्रम करता रहता है, उसकी कार्य करने की शक्ति जल्दी नष्ट हो जाती है। पर जो समय पर गाढ़ निद्रा लेता रहता है वह नुकसान से बचा रहता है। क्योंकि प्रगाढ़ निद्रा लेने से उसे नवीन शक्ति प्राप्त हो जाती है। ठीक यही बात सामायिक के विषय में समझनी चाहिए। जो मनुष्य राग-द्वेष को थोड़े समय के लिए भी त्याग देता है, उसके आत्मा में अपूर्व ज्योति प्रकट होती है और वह शान्ति का आनन्द अनुभव करता है।

ऐसी अपूर्व कौन-सी वस्तु है जो सामायिक द्वारा प्राप्त न हो सकती हो ?

एक सच्ची सामायिक की कीमत में चिन्तामणि और कल्पवृक्ष भी तुच्छ हैं, और वस्तुओं की तो बात ही क्या ?

संसार में आज लड़ाई-झगड़े तेजी से बढ़ रहे हैं। पति-पत्नी, पिता-पुत्र, देवरानी-जिठानी, भाई-भाई, समाज-समाज सब के सब

सामायिक के अभाव में ही लड़ रहे हैं। अगर लोग हृदय से सामायिक को अपना लें, तो इन लड़ाइयों का शीघ्र अन्त आ सकता है।

आज लाभ की कसौटी पैसा है। पैसे का लाभ ही आजकल लाभ माना जाता है। पैसे के लिए लोग दिन-रात एक कर रहे हैं, पर सामायिक के अपूर्व लाभ को कोई लाभ ही नहीं मानता। इसके लिए दो घड़ी खर्च करना उन्हें पसन्द नहीं है।

दो घड़ी रोज विज्ञान का अध्ययन करने वाला महाविज्ञानी बन जाता है, दो घड़ी नित्य अभ्यास करने वाला महा-पण्डित बन जाता है, इसी प्रकार यदि आप नित्य दो घड़ी सामायिक में खर्च करेंगे तो आपको अपूर्व शान्ति मिलेगी और महाकल्याण का लाभ होगा।

मित्रो! मन को मजबूत बनाइये और सच्ची सामायिक में लगाइए। अगर आप संसार-भ्रमण को काटना चाहें और महाव्याधियों से ग्रसित आत्मा को उबारना चाहें तो महावीर की बतलाई हुई इस अमूल्य सामायिक रूपी महौषध का सेवन कीजिए। आपका कल्याण होगा।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

समत्व प्राप्त करना ही सामायिक का खास उद्देश्य है। प्रश्न उठ सकता है, समत्व की पहचान क्या है? उत्तर होगा—क्षण-क्षण में शान्ति का अनुभव होना ही समत्व की पहचान है। जिस सामायिक के द्वारा ऐसा अलौकिक शान्ति-सुख मिले उसके आगे चिन्तामणि और कल्पवृक्ष किस गिनती में हैं? यद्यपि आप गृहस्थों को पैसे-पैसे के लिए कष्ट उठाना पड़ता है पर सामायिक में बैठे हुए

श्रावक को यदि कोई कीमती से कीमती वस्तु देने आवे तो क्या उस समय वह लेगा ?

'नहीं !'

तो अनुमान लगाइए कि सामायिक कितनी कीमती है, जिसे त्याग कर वह उन वस्तुओं को लेने के लिए तैयार नहीं होता। सामायिक के समय प्राप्त होने वाले बड़े भारी उपहार को भी श्रावक खुशी के साथ अस्वीकार कर देता है, मानो स्वयं उसका दान ही करता हो। उस समय के उसके हर्ष की तुलना करना अशक्य है। उस हर्ष का अनुभव बातों से नहीं, क्रिया से हो सकता है।

सामायिक में बैठ करके भी जो अपने भाग्य को कोसता है, तुच्छ वस्तुओं के लिए भी आठ-आठ आँसू गिराता है, उसे कुछ लाभ नहीं होता। ऐसी सामायिक करने और न करने में ज्यादा अन्तर नहीं रहता।

सामायिक के समय श्रावक को समस्त सावद्य अर्थात् पापमय क्रियाओं से निवृत्त होकर निरवद्य अर्थात् निष्पाप क्रिया ही करनी चाहिए।

जैसे चतुर व्यापारी अपने पुत्र को व्यापार में प्रवृत्त करते समय सीख देता है कि—देखो, लुच्चे, लफंगे, चोर तुम्हारे पास बहुत आवेंगे, उनसे सावधान रहना और भलेमानसों के साथ ही व्यापार करना। शास्त्रकार की सावद्य और निरवद्य की सीख श्रावक के लिए ऐसी ही है। इस पर खूब ध्यान देना चाहिए।

सामायिक कितने समय तक करनी चाहिए, शास्त्र में इसके लिए नियमित समय का उल्लेख देखने में नहीं आया। पूर्वाचार्यों ने

दो कच्ची घड़ी का समय नियत किया है। यह समय ठीक है और हम भी इसका समर्थन करते हैं।

सामायिक में बैठ कर निकम्मा नहीं रहना चाहिए। मनुष्य का मन बन्दर-सा चंचल है। उसे कुछ न कुछ काम चाहिए। जब उसे अच्छा काम नहीं मिलता तो बुरे काम में ही लग जाता है। बुरे काम कहो चाहे सावद्य काम कहो, एक ही बात है। सावद्य काम नीचे गिराने वाले और निरवद्य काम ऊपर उठाने वाले होते हैं। अतएव श्रावक को निरवद्य कामों की तरफ विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए। कहा भी है :—

> सामाइयंमि तु कडे, समणो इव सावओ हवइ जम्हा।
> एतेण कारणेणं बहुसो सामाइअं कुज्जा॥

अर्थात्—सामायिक करते समय श्रावक भी साधु के समान हो जाता है, क्योंकि वह उस समय सावद्य का त्यागी है, अतएव बार-बार सामायिक करनी चाहिए।

स्नान

समाज में आजकल स्नान का विषय विवादास्पद बन गया है। प्रश्न यह है कि स्नान करना चाहिए या नहीं? हम इस प्रश्न पर जब वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करते हैं, तब इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि स्नान करने से हानि भी होती है और लाभ भी होता है। यह किस प्रकार? सो सुनिए—विज्ञान बतलाता है कि स्नान करने से चमड़ी के स्वाभाविक गुण नष्ट हो जाते हैं और चमड़ी की हवा द्वारा किये जाने वाले आघातों को सहन करने की शक्ति नष्ट हो जाती है। साथ ही स्नान न करने से रोमकूपों में मैल जम जाता है और उनमें होकर आने-जाने वाली हवा में रुकावट पड़ जाती है। हवा की इस रुकावट के कारण बड़े-बड़े भयंकर रोग फूट निकलते हैं।

ब्रह्मचारी के लिए स्नान करने का शास्त्र में निषेध है, सो इस कारण कि वह आसन आदि के प्रयोग द्वारा हवा के आवागमन की रुकावट दूर कर सकता है। इसीलिए हमारे यहाँ ब्रह्मचारियों को स्नान करने की मनाई की विधि चली आई है। पर किसी शास्त्र में

श्रावक को साधु की क्रिया पालने का आदेश नहीं दिया गया है। यह बात मैं अपने मन से नहीं कहता, पर आनन्द श्रावक का आदर्श आपके सामने है। इस पर ठीक-ठीक विचार करने से आप सत्य स्वरूप को पहचान लेंगे।

मैं अन्ध-श्रद्धा वाला तो हूँ नहीं कि बच्चा अगर अन्न का त्याग करने के लिए मेरे पास आवे तो मैं उसे अन्न का त्याग करा दूं। वस्तु-स्थिति की तरफ़ नज़र डाल कर देखना मेरा कर्त्तव्य है। कोई भाई बैठा-बैठा अचानक ही वैराग्य में आकर निष्कारण 'सन्थारा' करने की इच्छा प्रकट करे तो मैं साफ़ इन्कार कर दूंगा, फिर वह अपनी इच्छा से भले ही मनचाहा करे। मैं तो उसे आत्महत्या का पाप कहूँगा। स्नान के सम्बन्ध में भी मेरा शास्त्रीय अनुभव यही बतलाता है कि कोई श्रावक अपनी इच्छा से स्नान न करे, यह उसकी इच्छा पर निर्भर है, परन्तु शास्त्र गंदा रहने की आज्ञा नहीं देता। गंदा रहने से लोग जिनमार्ग की निन्दा करते हैं और गंदा रहने वालों की भी हँसी करते हैं। वे यह समझते हैं कि साधु इन्हें गंदा रहना सिखलाते होंगे।

साधु गंदा रहना नहीं सिखलाते, हाँ विधि की तरफ अवश्य ध्यान देना चाहिए। साधु विधि का और यतना का उपदेश अवश्य देते हैं।

कई भाइयों को यह बात शायद नई मालूम होती होगी और वे कई प्रकार से शंकित होते होंगे; पर मित्रो! क्या करूँ? मुझ से शास्त्र की बात नहीं छिपाई जाती।

आनन्द श्रावक स्नान करते समय पानी का किस प्रकार उपयोग करता था, यह जरा देखिए। शास्त्र में लिखा है—

उट्टिएहिं उदगस्स घडेहिं

इसकी टीका यह है—उष्ट्रिका—बृहन्मृण्मयभाण्डं, तत्पूरण-प्रयोजना ये घटास्त उष्ट्रिका:, उचितप्रमाणा अतिलघवो महान्तो वेत्यर्थः।

अर्थात उष्ट्रिका नामक प्रमाण से बना हुआ एक मिट्टी का पात्र होता था। आनन्द उसे भर कर स्नान करता था। इसका मतलब यह था कि पानी कहीं आवश्यकता से न्यूनाधिक न हो। मित्रो! देखिए, परिमाण करने से कितनी निवृत्ति हो गई? एक आदमी कुएँ में या सरोवर में स्नान करेगा और दूसरा इस प्रकार करेगा। अब आप ही सोचिए, महापाप से कौन बचा?

(उपासकदशांग की व्याख्या में से उद्धृत)

भीनासर
२०—१०—२७

दतौन

—:*:—

'दंतवणविहि' का संस्कृत टीका में अर्थ किया है—'दंतपावनं-दन्तमलापकर्षणकाष्ठम्।' अर्थात् दांतों का मल साफ करने के काम में आने वाली लकड़ी।

पहले के श्रावक दतौन भी किया करते थे। आजकल के कई भाई हाथ-मुंह धोने और दतौन करने का दो-चार दिन के लिए त्याग ले लेते हैं पर श्रावक के लिए ऐसी क्रिया का कहीं विधान देखने में नहीं आया। लोग अपने मन से कुछ भी कर लें, मगर मैं तो इस समय शास्त्र की बात कह रहा हूँ।

पूर्वीय और पाश्चात्य वैद्यक-शास्त्र के कथनानुसार दतौन न करने से बड़ी-बड़ी बीमारियाँ हो जाती हैं।

कई भाई इसलिए दतौन करना छोड़ देते हैं कि ऐसा करने से 'आरम्भ' से बच जाएँगे। साधुजी जब दतौन नहीं करते तो हम भी दतौन न करें। इसमें हानि ही क्या है?

परन्तु उन भाइयों को समझना चाहिए कि श्रावक और साधु की विधि में इतना अन्तर है, जितना आसमान और जमीन में। साधु ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं और भोजन पर पूर्ण अंकुश रखते हैं। आरोग्य-शास्त्र का नियम है कि जो सात्विक और सुपच आहार करता है उसके दांतों पर मैल नहीं जमता तथा दुर्गन्ध भी पैदा नहीं होती। इस नियम के अनुसार साधु बिना दतौन के भी रह सकता है, पर आजकल के गृहस्थ, जो आहार आदि पर जरा भी अंकुश नहीं रखते, कैसे साधुओं का अनुकरण करते हैं, यह समझ में नहीं आता।

कई साधु भी गृहस्थ को दतौन का त्याग करा देते हैं। इसका कारण यह मालूम होता है कि साधु की सहज दृष्टि इसी पर जाती है और गृहस्थ भी यही सोचता है कि जब मुनि महाराज दतौन के सर्वथा त्यागी हैं, तब यदि हम भी कुछ दिनों के लिए उनका अनुकरण करें तो क्या हर्ज है? पर मित्रो! मैं यह कहता हूँ कि जो साधु लौकिक-दृष्टि को सामने न रखते हुए गृहस्थ को त्याग करा देता है, वह उस पर अनुचित बोझा डालता है। ऐसा करने से वे उलटे रोगी बन जाते हैं।

दतौन का त्याग जिसे करना है वह खुशी से त्याग करे, परन्तु इस त्याग से पहले जिस तैयारी की आवश्यकता है, जैसे तामस और राजस भोजन का त्याग, मर्यादाहीन भोजन का त्याग आदि, पहले उसकी पूर्त्ति तो कर ले। पशु अपनी मर्यादा के अनुसार ही भोजन करता है, अतएव उसे दतौन करने की आवश्यकता नहीं होती। फिर भी उसके दांत मनुष्य के दांतों की अपेक्षा अधिक साफ-सुथरे रहते हैं। कहने का आशय यह है कि आप दांतों को मैला बनाने वाले भोजन का त्याग कर दें तो दतौन करने की आवश्यकता ही न रहे। आप ऐसे भोजन का त्याग नहीं करते और इस कारण दांत मलीन

और दुर्गन्धमय बन जाते हैं। फिर भी दतौन करने का त्याग करते हैं, यह चारित्र के क्रम के अनुकूल नहीं है। अतएव मित्रो ! क्रम को देखो और चारित्र की शृङ्खला की ठीक तरह से रक्षा करो।

साधुओं को अपनी विधि पालने के लिए शास्त्र में वर्णित किसी उच्च श्रेणी के साधु को अपना आदर्श बनाना चाहिए। इसी प्रकार श्रावक को अपनी विधि पालने के लिए उच्च श्रावक आनन्द की दिन-चर्या पर ध्यान देना चाहिए। आनन्द श्रावक का उल्लेख इसी प्रयोजन के लिए शास्त्र में किया गया है। ऐसा न होता तो उसके उल्लेख की आवश्यकता ही क्या थी ?

(उपासकदशांग की व्याख्या में से उद्धृत)

भीनासर }
२०—१०—२७ }

वीर्यरक्षा

मनुष्य को अपनी श्रेष्ठता का गर्व है। वह प्राणी-जगत् में अपने को सर्वोत्कृष्ट मानता है। यह ठीक भी है। मनुष्य में अपने हित-अनहित पहचानने की जैसी विशिष्ट बुद्धि है, वैसी अन्य प्राणियों में नहीं पाई जाती। पर उस बुद्धि का कितना मोल कूता जा सकता है, जो वन्ध्या है, जो निष्फल है। बुद्धि का फल सदाचार है। हिताहित के विवेक की सार्थकता इस बात में है कि मनुष्य हित की बात जान कर उसमें प्रवृत्त हो और अहितकारक बात से दूर रहे। बुद्धि जब आचार की जननी नहीं बनती तब वह वन्ध्या है। मनुष्य के लिए अन्यान्य बोझों के समान वह भी एक बोझ है।

पशुओं में मनुष्य जैसी विशिष्ट बुद्धि न सही; पर उनमें जितनी बुद्धि है उस सब का अगर वे सदुपयोग करते हैं और मनुष्य अपनी

अतुल बुद्धि का अगर दुरुपयोग करता है, तो आप निर्णय कीजिए दोनों में कौन श्रेष्ठ है ?

जीवन के प्रधान आधारभूत वीर्यरक्षा की कसौटी पर मनुष्य को और पशु को परखिए। आपको आश्चर्य होगा कि जगत् का सर्व-श्रेष्ठ प्राणी किस प्रकार पशु से भी इस विषय में गया-बीता है! जो बुरी बात पशुओं में भी नहीं पाई जाती वह मनुष्य में यहाँ तक कि श्रावक कहलाने वालों में भी पाई जाती है।

श्रावक परस्त्री का त्याग करते हैं पर स्वस्त्री में अपने को सर्वथा ही खुले समझते हैं। आप जरा मेरी बात पर ध्यान दीजिए। मैं पूछता हूँ, जो पराये घर की जूंठन त्याग कर अपने घर की रोटियाँ मर्यादा भुलाकर खायेगा उसे क्या अजीर्ण न होगा ? क्या वह रोग से बच जायगा ? नहीं। भाइयो ! चाहे पराये घर की जूंठन आपने त्याग दी हो पर यदि अपने घर की मर्यादा —मात्रा— न रक्खोगे तो याद रखना आपकी रक्षा न होगी। स्वदारसन्तोष धारण करना पुरुषमात्र का कर्त्तव्य है। स्वस्त्री के प्रति तीव्र असंतोष होना श्रावक-धर्म से प्रतिकूल है।

पहले के ज़माने में बिना पूर्ण वय के कोई संसार-कृत्य नहीं करता था, पर आज आठ-आठ दस-दस वर्ष के छोकरे इस काम में लग जाते हैं। जो माता-पिता उनका इस उम्र में विवाह कर देते हैं, क्या वह क़ायदे के अनुसार है ? कई नामधारी श्रावक सूक्ष्म हिंसा की तरफ़ ध्यान देते हैं पर इस कृत्य के द्वारा होने वाली भयंकर हिंसा उनकी नज़र में नहीं आती। कितनेक धनवानों ने यह भ्रष्टकारिणी प्रथा चला कर भोली जनता के सामने एक पतित आदर्श खड़ा किया है। लग्न-क्रिया के

लिए शास्त्र में 'सरिसवया' आदि पाठ कहा गया है। विवाह करने के पश्चात् जो स्त्री 'धम्मसहाया' अर्थात् धर्मक्रिया में सहायता पहुँचाने वाली समझी जाती थी वह आज भोग की सामग्री गिनी जाती है।

जो वस्तु संजीवनी जड़ी से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है उसे इस प्रकार नष्ट करना सचमुच घोर अविवेक है और अपने पतन को आमंत्रण देना है। क्या आप अमृत से पैर धोने वाले को बुद्धिमान् कहेंगे? नहीं। जिस वस्तु से तीर्थंकर, अवतार या महापुरुष कहलाने वाले महान् आत्मा उत्पन्न होते हैं, उस वस्तु को ऋतुकाल के बिना फैंक देना कितनी मूर्खता है? जो भाई-बहिन अपनी शक्ति की समुचित रक्षा करेंगे वे संसार के सामने आदर्श खड़ा कर सकेंगे। आपने हनुमानजी का नाम सुना है, जिनमें अतुल बल था। जानते हैं, उनमें वह बल कहाँ से आया था? वह रानी अंजना और महाराज पवन के बारह वर्ष तक ब्रह्मचर्य पालने का प्रताप था। इसलिए वीर्यरक्षा करना अपनी सन्तान की रक्षा करना है।

❀ ❀ ❀ ❀

कितनेक मनुष्यों की दशा कुत्तों और गधों से भी गई-बीती पाता हूँ, तब मेरे संताप की सीमा नहीं रहती। ये जानवर प्रकृति के नियमों के कितने पाबन्द रहते हैं? पर मनुष्य? वह प्रकृति के नियमों को निःसंकोच होकर ठुकराता है। शायद मनुष्य सोचता है—'मेरे सामर्थ्य के सामने प्रकृति तुच्छ है! वह मेरा क्या बिगाड़ सकेगी?' पर इस अज्ञान के कारण मनुष्य को बहुत बुरे नतीजे मिले हैं और मिल रहे हैं। ये जानवर नियत समय में अपनी कामवासना तृप्त करते हैं पर मनुष्य के लिए 'सब दिन एक समान' हैं। कहाँ तक

कहा जाय, विवाह हो जाने पर भी मनुष्य पर-स्त्री के पीछे धूल खाते फिरते हैं ! हाय ! यह कितनी बड़ी नीचता है ? क्या मनुष्य में अब पशुओं जितनी बुद्धि भी अवशेष नहीं रही ? ६० वर्ष के बूढ़े के गले १२ वर्ष की कन्या बाँध देना विवाह प्रथा का बीभत्स उपहास करना है, मानवीय बुद्धि का दिवाला फूंक देना है, अनाचार-दुराचार को आमंत्रण देना है, समाज के विरुद्ध अक्षम्य विद्रोह करना है, राष्ट्र के साथ द्रोह करना है, भावी सन्तान के पैर पर कुठाराघात करना है और स्वयं अपने जीवन को कलंकित करना है।

इस प्रकार का दुस्साहस प्रायः अमीर लोग ही करते हैं। बेचारे गरीबों की इतनी हिम्मत कहाँ ? धनवान् मनुष्यो ! क्या तुम्हारे पास धन इसलिए है कि तुम उससे पशुता-पशुओं से भी बदतर-स्थिति खरीदो ?

बालविवाह

पूज्य श्री श्रीलालजी महाराज कहा करते थे कि किसान जब बीज बोता है तो पहले उनका वजन देख लेता है । जो बीज ज्यादा वजनदार होता है वह अच्छा गिना जाता है । और उससे निपज भी अच्छी होती है । किसान बीज की जितनी जाँच पड़ताल करता है उतनी जाँच आप अपने बालकों और बालिकाओं के लिए करते हैं ? याद रखिए वीर्यशाली युगल ही भारी—बलवान होगा और उसीसे उत्तम सन्तान उत्पन्न हो सकेगी । पीछे माता-पिता स्वयं ही दुःखमय जीवन नहीं बिताते वरन् अपनी सन्तानपरम्परा में भी दुःख के बीज बोते हैं । मित्रो ! मैं पूछना चाहता हूँ कि इस दुर्गति का उत्तरदायित्व किस पर है ? कहिए, छोटी उम्र में मातृ-पितृ-पद की दीक्षा देने वालों का ।

बेचारे भोले-भाले बालक, जिन्होंने दाम्पत्य जीवन की पूरी तरह कल्पना भी नहीं की, जो संसार को खिलवाड़ समझते हैं, जिन

में स्त्रीत्व और पुरुषत्व की भावना भी परिपक्व नहीं होने पाई है, आप लोगों के द्वारा दाम्पत्य की बोझीली गाड़ी में जोत दिए जाते हैं ! खेद की बात तो यह है कि आप बालविवाह के दुष्परिणाम प्रत्यक्ष देखते हैं फिर भी नहीं चेतते । बालविवाह के फल स्वरूप सन्तति रोगी, शोकी, निर्बल और अल्पायुष्क होती है ।

आज भारत में सर्वत्र इसी प्रकार की चंचलता नजर आ रही है । विवाह के विषय में जितनी अधीरता पाई जाती है उतनी शायद ही किसी अन्य विषय में हो । नीतिज्ञ जनों का उपदेश है कि—

गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत् ।

अर्थात् मौत सिर पर नाच रही है, ऐसा सोचकर धर्म का आचरण करना चाहिए ।

पर आपके यहाँ उलटी गङ्गा बहती है । धर्माचरण के समय तो आप सोचते हैं—'बुढ़ापा किस काम आएगा ? उस समय सांसारिक झंझट जब कम हो जाएँगे तो धर्म की आराधना हो जायगी । पर बच्चों के विवाह के विषय में ऐसा विचार करते हैं मानों आपने संसार की नश्वरता को भलीभाँति समझ लिया है और जीवन का कल तक भरोसा नहीं है । इस कारण 'काल करे सो आज कर, आज करे सो अब ।' इस नीति का अवलम्बन करते हैं । और आप समझते हैं कि हम अपनी सन्तति के बड़े हिन्तचिन्क हैं ! आपके खयाल से आपकी सन्तान में इतनी योग्यता नहीं कि वह आवश्यता समझने पर अपना विवाह आप कर लेगी । पर मित्रो ! कभी आप यह भी विचार करते हैं कि जो सन्तान अपना विवाह करने योग्य भी न होगी, उसमें विवाहित जीवन का गुरुतर भार सहार सकने की योग्यता कहाँ से होगी ?

अगर आप अपने अन्तःकरण की समीक्षा करें तो मालूम होगा कि विवाह सम्बन्धी अधीरता में सन्तान के कल्याण की कामना कारण नहीं है मगर अपने आनन्द की अपरिहार्य अभिलाषा ही उस अधीरता का प्रधान कारण है। पुत्र और पुत्रियों से आपका जी भर गया है। अब आपके मनोरंजन के लिए नयी सामग्री के रूप में पोता और पोतियों की जरूरत है। बस, अपने मनोरंजन के हेतु आप अपनी सन्तान पर भी दया नहीं खाते! अपने स्वार्थ के लिए उनके साथ ऐसा निर्दय व्यवहार करते हैं कि उन्हें जीवन भर उसका कटुक फल भुगतना पड़ता है और फिर भी उसका अन्त नहीं आता।

मित्रो! इस दुर्भावना से बचो। विचार करो कि आपके थोड़े स्वार्थ से सन्तान का जीवन किस प्रकार नष्ट हो रहा है? अपनी हवस पूरी करने के लिए ऐसे बालकों का विवाह मत करो जिन्हें विवाह का उद्देश्य ही मालूम नहीं है।

सन्तान उत्पन्न करके तुमने अपने सिर पर जो भारी उत्तरदायित्व अंगीकार किया है, उसका निर्वाह उनका विवाह करने से नहीं होता। ऐसा करके आप अपने उत्तरदायित्व को अधिक बढ़ाते हैं। अगर आप सन्तान के उत्तरदायित्व को निभाना चाहते हैं—अगर आप सन्तति-ऋण से मुक्त होना चाहते हैं तो उन्हें सुशिक्षित बनाइए, वीर्यशाली बनाइए, जीवनोपयोगी अनेक विद्याओं का सम्यक् ज्ञान दीजिए। जो माता-पिता सन्तान को जन्म देता है पर उसे जीवन की क्षमता देने में लापरवाही करता है वह अपने उत्तरदायित्व से मुकरता है और सन्तान के प्रति कृतघ्नता प्रदर्शित करता है।

माता-पिता का परम कर्त्तव्य तो यह है कि बालक या बालिका जब तक परिपक्व उम्र का न हो जाय तब तक संयममय वातावरण

में रखने का प्रयत्न करें, वासना के दलदल से बचाते रहें और उसके चित्त में किसी तरह का विकार न आने देने के लिए स्वयं भी संयम और सदाचार का जीवन वितावें। पर आज क्या हो रहा है? 'नान्या, थारे बींदणी लावां? तू बींदणी ने कांई करेलो? काली लावाँ के गोरी लावां?' अफसोस! इस प्रकार की बातें करके अपना मनोरंजन करने वाले अज्ञान माता-पिता के लिए क्या कहा जाय? इससे बढ़ कर पतन का और क्या मार्ग हो सकता है? इस प्रकार की बातों से बालक के कोमल और कल्पनाशील मस्तिष्क पर जो जहरीला प्रभाव पड़ता है उससे बालक का शतमुखी पतन होता है। आगे जाकर यह कुसंस्कार उन्हें पतन के गड़हे में डालते हैं। बालक जब पतन की तरफ जाने लगता है तो माता-पिता को कुछ होश आता है और वे पश्चात्ताप करते हैं। मगर उस समय का पाश्चात्ताप किस मतलब का? धक्का देकर कुएँ में अपने बालक को फटक कर रोने वाले की जो दशा हो सकती है वही ऐसे माता-पिता की होती है।

मित्रो! आप इस तथ्य पर शान्ति के साथ विचार करें। आप की थोड़ी-सी भी भूल बालक के जीवन को अन्धकारपूर्ण बना सकती है। आप ऐसा कोई काम न करें जिससे आपकी सन्तान का अहित हो। सन्तान का जीवन आपके हाथ में है। कम से कम आप उसकी इतनी चिन्ता अवश्य करें, जितनी बागवान किसी बगीचे के पौधों की करता है। अधीरता को त्यागिये। मनोरंजन के लिए सन्तान के उज्ज्वल भविष्य पर काला पर्दा मत डालिए। उन्हें शक्तिशाली, सदाचारी, संयमी और सुयोग्य बनाने की चेष्टा कीजिए। बालविवाह की क्रूर प्रथा का अन्त कीजिए।

कन्याविक्रय

मित्रो ! प्राचीन काल में ऐसा कोई बदनसीब नहीं था जो कन्या-विक्रय करता। पर आज एक ओर कन्याविक्रय होता है और दूसरी ओर वर विक्रय भी चल रहा है। कन्यादान के साथ स्त्रीधन के रूप धन देना दूसरी बात है, पर 'इतनी रकम देना स्वीकार हो मेरे लड़के के साथ सगाई हो सकती है' इस प्रकार वर का मूल्य निर्धारित करना वरविक्रय नहीं तो क्या है ? इस प्रकार की समाज में फैली हुई कुरीतियों के कारण भयंकर परिणाम हो रहे हैं। सुना था—भुसावल के एक वृद्ध ने, कन्या की इच्छा के विरुद्ध, धन के बल पर उससे विवाह कर लिया। जाति ने भी इस कार्य में सहायता पहुँचाई। वृद्ध लखपति था। कुछ ही समय के पश्चात् उस लड़की ने वृद्ध के सामने ही ऐसे भंयकर पाप किये, जिनका वर्णन करने में लज्जा आती है। आप कह सकते हैं, लड़की महापापिनी थी, पर उस वृद्ध को क्या कहना चाहिए ? लड़की को पाप में प्रवृत्त करने वाला कौन था ? लड़की ने अपने आप को पतन के गर्त्त में डाल करके भी

दूसरों की आँखें खोल दीं। पर जो लोग जानकर आँखें बन्द किए हैं, उनका क्या इलाज हो सकता है? अगर वह वृद्ध विवाह करने का दुस्साहस न करता तो उस लड़की का पतन शायद ही होता।

भारत में पहले स्वयंवर की रीति प्रचलित थी। कन्या अपनी इच्छा के अनुसार वर का चुनाव कर सकती थी। माता-पिता उसमें विशेष हस्तक्षेप नहीं करते थे। वे जानते थे—एक जीवन को दूसरे जीवन के साथ मिला देना कठिन काम है। अगर 'योग्यं योग्येन योजयेत्' के अनुसार उचित सम्बन्ध न हुआ तो परिणाम अत्यन्त अवाच्छनीय होता है।

बाद में यह काम माता-पिता ने अपने हाथ में लिया। उस समय यह परिवर्त्तन सकारण रहा होगा पर आज तो इस परिवर्त्तन ने कुछ और ही रंग दिखाया है। अनेक बार तो ऐसा होता है कि ब्याह भी व्यापार बन जाता है।

श्रावको! आपको यह बताने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए की कन्या विक्रय और वर विक्रय श्रावकधर्म के विरुद्ध हैं। इसमें धर्म, नीति और समाज की मर्यादा का खंडन होता ही है, साथ ही बेचे जाने वर और कन्या का जीवन भी सदा के लिए दुःखमय बन जाता है। अतएव इस कुप्रथा का अन्त करो, इसी में कल्याण है।

मृत्युभोज

मृत्युभोज मारवाड़ प्रान्त में 'मोसर' कहलाता है। 'मौसर' का भोजन महाराक्षसी भोजन है। वह गरीबों को अधिक गरीब बनाने वाला और धनवानों को दयाहीन बनाने वाला है।

आप मौत के उपलक्ष्य में किये जाने वाले भोज को खाने के लिए जिसके घर उत्साह के साथ जाते हैं, क्या कभी उसके घर की भीतरी हालत भी आपने पूछी है? क्या जातीय समवेदना की इतिश्री उसके घर भोजन कर आने में ही हो जाती है?

आपकी इस कुरीति ने अनेक गरीबों का सत्यानाश कर डाला है। धनवान् लोगों को पैसे की कमी नहीं। वे इस प्रसंग पर पैसा लुटाते हैं और गरीबों पर ताने कसते हैं। बेचारे गरीब जाति में अपनी प्रतिष्ठा कायम रखने के लिए धनवानों का अनुकरण करते हैं। जाति में धनवानों की प्रधानता होती है और उन्होंने प्रतिष्ठा की कसौटी इसी प्रकार की बना रक्खी है। पर याद रखना चाहिए,

सच्चा जाति-हितैषी वह है जो अपने व्यवहार से गरीबों की प्रतिष्ठा बढ़ाता है, जो अपने गरीब जाति-भाइयों की सहूलियत देखकर स्वयं बर्त्ताव करता है, जो उनकी प्रतिष्ठा में ही अपनी प्रतिष्ठा मानता है। सच्चा जाति-हितैषी अपने बड़प्पन की रक्षा गरीबों के बड़प्पन की रक्षा करने में ही मानता है।

मित्रो ! जरा विचार करो—क्या एक-दो दिन तक भोज में जीमने से आप मोटे-ताज़े हो जाएँगे ? अगर ऐसा नहीं है तो 'मोसर' में खर्च होने वाला धन किसी धर्म-कार्य में, जाति-भाइयों की भलाई में, खर्च करना क्या उचित नहीं है ? आपके अनेक जाति-भाई वृथा भटकते-फिरते हैं। उन्हें कहीं से कोई सहायता नहीं मिलती। अगर उनकी सहायता में आप कुछ व्यय करें तो क्या आपका धन व्यर्थ चला जायगा ? यदि 'मोसर' करने से नाम होता है तो क्या इससे नाम न होगा ?

कई भाई कहते हैं—जवान आदमी की मृत्यु होने पर मोसर नहीं जीमना चाहिए। बूढ़ों का जीमे तो कोई हानि नहीं है। इसका मतलब यह समझना चाहिए कि जवान नहीं मरने चाहिए, बूढ़े मरें तो अच्छा है ? लड्डू खाने के लिए कैसे-कैसे रास्ते निकाले जाते हैं ! 'मोदकप्रिय' लोग चाहते होंगे, कब बूढ़े मरें और कब मोदकों के आस्वादन का अवसर हाथ लगे !

मित्रो ! संसार की विषम-स्थिति की ओर दृष्टि डालो। जिसके घर आप मोसर जीमने जाते हैं, उसके घर की, उसके बाल-बच्चों की और उसके घर की महिलाओं की स्थिति देखो तो मालूम होगा कि मोसर जीम कर कैसा राक्षसी कृत्य किया जा रहा है।

जवाहिर-ज्योतिर्माला

[गुजराती भाषा में]

१ श्री जवाहिर-व्याख्यान-संग्रह ... ... २।)

२ श्री जवाहिर-व्याख्यान-संग्रह ... ... २॥)

३ श्री जवाहिर-व्याख्यान-संग्रह

४

५

।-)

७ ... निर्णय ... ... ।=)

८ सत्यमूर्ति हरिश्चन्द्र ... ... ।=)

श्री जवाहिर-किरणावली

प्रथम किरण—दिव्य-दान ... ...मूल्य १।)

द्वितीय करण—दिव्य-जीवन ... ...मूल्य १)

तृतीय किरण—दिव्य-संदेश ... ...मूल्य १)

श्री श्री. साधुमार्गी जैन हितकारिणी संस्था की ओर से निकट भविष्य में प्रकाशित होने वाले पूज्य श्री की पावन जीवनी और बहुमूल्य जवाहिर-साहित्य की प्रतीक्षा कीजिए।

प्राप्ति-स्थान—

१ सेठ चम्पालालजी बांठिया, भीनासर

२ श्री हितेच्छु श्रावक मंडल, रतलाम

३ श्री सन्मति-साहित्य-सदन, ब्यावर

(अ) श्री जैन गुरुकुल, ब्यावर

(ब) टी. जी शाह बिल्डिङ्ग पायधुनी, बम्बई ३